# संस्कृत-शिक्षण-पद्धति

लेखक—
साहित्याचार्य
पं० सीताराम चतुर्वेदी एम. ए.
(संस्कृत, हिन्दी, पाली, प्रत्न भारतीय इतिहास तथा संस्कृति),
बी. टी., एल् एल् बी.

प्रकाशक—
नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स
चौक, बनारस

प्रथम संस्करण ] सं० २००६ [ मूल्य २॥)

# भूमिका

संस्कृतकी शिक्षा प्रणाली अत्यन्त व्यवस्थित रूपसे सैकड़ों-सहस्रों वर्षों से निरन्तर निर्बाध गतिसे अभी तक चली आ रही है और मेरा अपना मत यह है कि इसमें मेधा-शक्तिका स्फूर्ति देने, विचार शक्तिको उद्बुद्ध करने और विवेचना-शक्तिको पल्लवित करनेके जितने संजीवनीय तत्व हैं उतने किसी शिक्षा-प्रणालीमें नहीं है। इस शिक्षा-प्रणाली गुरु और शिष्यके आध्यात्मिक संबंधकी प्रतिष्ठाके कारण शील और विनय स्वतः विकसित होते हैं, उन्हें नियम और दंडके बलसे कृत्रिम रूपसे स्थापित करनेकी अपेक्षा नहीं रहती। यह सब जानते हुए भी मैंने इस पुस्तककी आवश्यकता क्यों समझी, यह समझा देना अत्यन्त आवश्यक है।

प्राचीन कालसे लेकर अँगरेजोंके आगमन तक हमारी पाठ-शालाएं भलेही नष्ट भ्रष्ट की गई हों, विद्वानोंको भलेही इधर-उधर भटकना पड़ा हो पर हमारी शिक्षा प्रणाली पर किसीका अधिकार नहीं था, उसका पाठ्यक्रम किसी शासक-द्वारा शासित नहीं था किन्तु युग बदल गया है और यह दुर्भाग्यकी बात है कि संस्कृत-शिक्षा भी नियन्त्रित कर दी गई, उसका स्वतन्त्र विकास रोक दिया गया और यही कारण है कि परीक्षाके माध्यमसे निकले हुए छात्र वैसे तेजस्वी, मनस्वी और आत्मा-भिमानी विद्वान न बन पाए जैसे पहले हुआ करते थे। इस नियन्त्रणका परिणाम यह हुआ कि संस्कृतके पंडितोंके लिये भी यह आवश्यक समझा गया कि विलायतके शिक्षा शास्त्रियोंने जो बहुतसे प्रयोग किए हैं परिणाम निकाले हैं या उपाय सुझाए हैं, उन सबका ज्ञान संस्कृतके अध्यापकोंको भी हो।

हमारे प्राचीन आचार्योंने शिक्षाके सम्बन्धमें जो सिद्धान्त निर्धारित किए हैं वे आज भी उतनेही सत्य हैं जितने दो सहस्र

वर्ष पहले थे। इस पुस्तकमें यथास्थान उनका विवेचन मिलता जायगा। उनके अतिरिक्त वर्त्तमान शिक्षा-शास्त्रियोंने जो अधिकांश प्रयोग किए हैं या सुझाव दिए हैं, वे प्रायः अव्यावहारिक और असंगत हैं। इसका भी विस्तृत तर्कपूर्ण विवेचन यथास्थान प्राप्त होगा किन्तु जैसे बौद्ध धर्मका खंडन करनेके लिये आचार्य कुमारिल भट्टको बौद्धधर्मका खंडन करना पड़ा था उसी प्रकार वर्त्तमान शिक्षा-सिद्धान्तोंकी निःसारता सिद्ध करनेके लिये भी उनका ज्ञान अपेक्षित है। इनके अतिरिक्त इसमें कुछ ऐसी व्यावहारिक बातें भी अवश्य हैं जो प्रत्येक अध्यापकको अध्यापनकी सुविधाके लिये जाननी ही चाहिएँ। मुझे विश्वास है कि संस्कृतके अध्यापक इससे अपना कार्य सिद्ध कर सकेंगे।

यह पुस्तक प्रारंभमें हिन्दी शिक्षकोंके लिये लिखी गई थी जो 'भाषाकी शिक्षा' के नामसे प्रकाशित हुई थी। उसके मस्त प्रकाशक श्री द्वारिकादास गुजराती (राजा बाबू) का मैं अभारी हूँ कि उन्होंने उसमें आवश्यक परिवर्त्तन करके इस रूपमें प्रस्तुत करने और नन्दकिशोर बन्धुओं द्वारा संस्कृत-शिक्षण-पद्धतिके नामसे प्रकाशित होने देनेमें सहमत हो गए। मैं अपने मित्र साहित्यव्याकरणाचार्य पंडित रामगोबिन्द शुक्लजीका भी कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने इसे यह रूप देनेमें बड़ी सहायता दी।

इस विषयपर यह पहली ही पुस्तक है और इसलिये यह संभव है कि इसमें कुछ विषय छूट गए हों या कुछ विषयोंपर आवश्यकतासे कम लिखा गया हो। मैं ऐसे सभी मित्रोंको धन्य-वाद दूँगा जो इस संबंधमें मुझे उचित और आवश्यक परामर्श देंगे।

काशी
महावारुणी पर्व
चैत्र कृ० १३, सं० २००५,

सीताराम चतुर्वेदी

# विषय-सूची

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

# संस्कृत-शिक्षण-पद्धति

●

१

## संस्कृत शिक्षाके उद्देश्य

*"वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते ।"*

मनोगत भावोंको प्रकट करनेका सर्वोत्कृष्ट साधन भाषा है। यद्यपि आँख, सिर और हाथ आदि अंगोंके सञ्चालनसे भी भाव प्रकट किए जा सकते हैं किन्तु भाषा जितनी शीघ्रता, सुगमता और स्पष्टतासे भावको प्रकट करती है उतनी सरलतासे अन्य साधन नहीं। यदि भाषा न होती तो मनुष्य पशुओंसे भी गया-बीता होता क्योंकि पशु भी करुणा, क्रोध, प्रेम, भय आदि कुछ भाव कान-पूँछ हिलाकर या गरज-भूँककर व्यक्त कर लेते हैं। भाषाके आविर्भावसे सारा संसार गूँगोंकी विराट् बस्ती बननेसे बच गया।

ईश्वरने हमें वाणी भी दी और बुद्धि भी। हमने इन दोनोंके-उचित संयोगसे भाषाका आविष्कार किया। भाषाने भी बदलेमें हमें इस योग्य बनाया कि हम अपने मनकी बात एक दूसरेसे कह सकें, अपना दुख-सुख दूसरोंको सुना सकें और दूसरोंका दुख-सुख स्वयं समझ सकें।

परन्तु भाषाकी उपयोगिता केवल कहने-सुनने तक ही परिमित नहीं है। कहने-सुननेके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि हम जो कुछ कहना चाहते हों, वह ठीक-ठीक नपे-तुले शब्दोंमें इस ढंगसे कहें कि सुननेवाला, शब्दोंके सहारे हमारी

बात ठीक-ठीक समझ जाय। ऐसा न हो कि कही खेतकी सुनी खलिहानकी।

बोलने और समझनेके अतिरिक्त भाषाका उपयोग पढ़ने और लिखनेमें भी होता है। कहने और समझनेकी भाँति लिखने और पढ़नेमें भी उपयुक्त शब्दोंके द्वारा भाव प्रकट करने और उसे ठीक-ठीक पढ़कर समझनेकी आवश्यकता होती है। कहनेका तात्पर्य यह कि भाषाकी शिक्षा देनेका उद्देश्य मनुष्यको ठीक-ठीक बोलना, समझना, लिखना और पढ़ना सिखाना है।

किन्तु केवल ठीक-ठीक बोलने, समझने, पढ़ने और लिखनेकी योग्यता आ जानेसे ही भाषा-शिक्षणका उद्देश्य पूरा नहीं होता। व्याकरणकी कड़ियोंमें कसकर शुद्ध-शुद्ध ढंगसे किसी बातको कह-सुन लेनेसे ही हमारी तृप्ति नहीं होती। हमारी आकांक्षा यह भी रहती है कि हम जो बात कहें उसका श्रोतापर प्रभाव पड़े। साथ ही हम यह भी चाहते हैं कि लिखने और बोलनेमें हमारा एक अपना निरालापन हो, हमारी एक शैली हो, जिससे हम लाखोंमें अलग पहचान लिए जायँ, अर्थात् हमारे लिखने और बोलनेपर हमारे व्यक्तित्वकी छाप पड़ी हो। इस भावनाको अग्रसर और उत्साहित करनेमें हमारी आत्मप्रियता अथवा यदि खुले शब्दोंमें कहें तो हमारा अहङ्कार बराबर सहायक होता है। ऐसी स्थितिमें दूसरोंसे अपनी बात मनवाने की अभिलाषा—'हमचुनीं दीगरे नेस्त' की प्रवृत्ति—कभी-कभी भारी बखेड़ा उपस्थित कर देती है। दूसरोंपर प्रभाव डालनेके लिये ओजपूर्ण शैलीसे जब हम कोई बात कहने लगते हैं तब

इसकी चिन्ता नहीं करते कि श्रोता हमारी बातकी चोटसे तिलमिलाता है या खिलखिलाता है। ऊँचे स्वरसे चिल्ला चिल्लाकर अपशब्दोंके प्रयोगको ही हम लोग भ्रमवश प्रभावपूर्ण और ओजपूर्ण शैली समझ बैठते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रभावके स्थानपर असद्भाव उत्पन्न हो जाता है, बात माननेके बदले श्रोता बात काटने लगता है।

अतः यह आवश्यक है कि लिखते और बोलते समय कोई बात ठीक-ठीक, प्रभावोत्पादक और ओजपूर्ण शैलीमें कही जानेके साथ-साथ मधुर ढंगसे भी कही जाय क्योंकि बात कहना कठिन नहीं है, बात कहनेका ढंग आना कठिन है। वाणी उस बाणके समान होनी चाहिए जो भीतरतक पहुँचकर श्रोताका हृदय बेधे तो, किन्तु चोट खानेवाला न तो रोवे-चिल्लावे, न आह करे वरन् बाणको निकालकर चूम ले और तड़पकर कह उठे—भाई वाह! क्या बात कही है। तात्पर्य्य यह कि बात इस ढंगसे कही जाय कि सुननेवाला उसकी कटुतापर चिढ़े नहीं वरन् उलटे उसकी कथन-शैलीपर मोहित हो जाय।

कहा जाता है कि राजा भोज जब छोटे थे तो उनके चाचा मुंजने राज्य हड़प लेनेकी इच्छासे भोजका वध करा डालना चाहा। जब वधिक, भोजका वध करनेके लिये उसे वनमें ले गए और भोजसे सब बातें बताईं तब भोजने वधिकोंसे कहा—ठीक है, जब चाचाजीकी यही इच्छा है तो तुम लोग मेरा वध कर डालो किन्तु मैं एक पत्र लिखकर देता हूँ वह मेरे चाचाजीको दे देना। भोजने झट एक श्लोक लिखा—

मान्धाता च महीपतिः कृतयुगालंकारभूतो गतः
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः।

अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते !
नैकेनापि समं गता वसुमती नूनं त्वया यास्यति ॥

[ सत्ययुगके सर्वश्रेष्ठ राजा मान्धाता भी समाप्त हो गए। जिस रामने समुद्रपर पुल बाँधकर रावणको मार डाला था, वे भी अब कहाँ हैं। इनके अतिरिक्त और भी जो युधिष्ठिर आदि बड़े बड़े राजा हो चुके हैं वे भी स्वर्ग पहुँच गए किन्तु पृथ्वी किसीके साथ स्वर्ग नहीं गई, पर जान पड़ता है आपके साथ यह अवश्य जायगी। ]

जब यह पत्र वधिकोंने पढ़ा तो उनकी आँखें भर आईं। उन्होंने भोजको छिपा दिया और वह पत्र लाकर मुञ्जको दिया। उस पत्रको पढ़कर मुञ्ज रोने लगा और उसने खोज कराकर भोजको राज्य दे दिया।

कहनेका तात्पर्य यह है कि वाणीमें विचित्र शक्ति होती है पर उसका प्रयोग जानना चाहिए और यह शक्ति वाणी-के उचित संस्कारसे ही प्राप्त हो सकती है।

विधाताकी सृष्टिमें सबसे अधिक असंतुष्ट प्राणी मनुष्य है। वह आवश्यकताकी पूर्त्ति मात्रसे संतुष्ट नहीं होता। उसे भूख लगनेपर केवल भोजन ही नहीं चाहिए वरन् उस भोजन-में कुछ चटपटापन, कुछ स्वाद, कुछ नमक-मसाला भी होना चाहिए। इसी प्रकार धूप-वर्षा, चोरी-डाकेसे बचनेके लिये मनुष्य घर बनाता है, पर घर बन जानेसे ही उसका काम पूरा नहीं होता। वह उसे भिन्न-भिन्न रंगोंसे रँगता है, उस-पर बेलबूटे बनवाता है, चित्रकारी कराता है। आवश्यकता-की पूर्त्तिके साथ वह अपनी सौन्दर्य-भावनाकी तृप्तिके साधन भी प्रस्तुत करता जाता है। उसकी यही प्रवृत्ति भाषाका प्रयोग करते समय भी सचेष्ट हो जाती है। वह

प्रभावशाली ढंगसे, व्याकरणकी दृष्टिसे शुद्ध और मधुर भाषाका प्रयोग करनेके साथ साथ उसमें चमत्कार तथा सौन्दर्य लानेका भी प्रयत्न करता है क्योंकि वह जानता है कि इस प्रकारकी चमत्कारपूर्ण वाणी लोगोंको शीघ्र ही आकर्षित कर लेगी और उसका प्रभाव भी स्थायी होगा।

अतः भाषाकी शिक्षाका उद्देश्य यह है कि हम दूसरोंकी कही और लिखी हुई बातोंको ठीक-ठीक समझ और पढ़ सकें तथा शुद्ध, प्रभावोत्पादक, मधुर और रमणीय ढंगसे बोल और लिख सकें।

भाषा-शिक्षणका उद्देश्य जान लेनेपर यह जानना भी आवश्यक हो जाता है कि हम कौनसी भाषा किस उद्देश्यसे सीखें। संसारमें व्यवहृत तथा प्राचीन भाषाओंकी संख्या सहस्रोंतक पहुँचती है। किन्तु हम उन्हें केवल छः भागोंमें ही बाँटते हैं (१) प्राचीन भाषा, (२) संस्कृति-भाषा, (३) मातृभाषा, (४) राष्ट्र-भाषा, (५) राज-भाषा और (६) विदेशी भाषा। भाषाओंका यह वर्गीकरण भारतमें भाषा-शिक्षणकी दृष्टिसे किया गया है।

प्राचीन भाषासे हमारा तात्पर्य्य उन भाषाओं से है जो भारतमें आजसे सैकड़ों या सहस्रों वर्ष पूर्व या तो साहित्यकी भाषाएँ थीं या साधारण जनसमाजके बोलचाल की, किन्तु जो राजनीतिक, सामाजिक, अथवा धार्मिक क्रान्तियोंके आघातसे अब निर्वंश अथवा अव्यवहृत हो गई हैं। ऐसी भाषाओंमें पाली तथा प्राकृतोंके नाम लिए जा सकते हैं। इन भाषाओंका अध्ययन इसी उद्देश्यसे किया जाता है कि हम उन भाषा-भाषियोंके सामाजिक जीवनका तथा

उनके ज्ञानका परिचय पा सकें तथा उनमें अपनी परम्परा-गत भाषा, साहित्य तथा संस्कृतिके इतिहासका क्रमिक विकास ढूँढ़ सकें।

संस्कृति-भाषासे हमारा तात्पर्य उस भाषासे है जिसमें हमारी जातिकी पूर्ण संस्कृति, सभ्यता, उसके आचार-विचार और ज्ञानका भांडार निहित है। इस दृष्टिसे हमारे लिये संस्कृत ही ऐसी भाषा है जो भारतीय जीवनके आदिसे अंततकके संस्कारोंका सञ्चालन करती है और जिसमें हमारी प्राचीन ज्ञान-गरिमा सुरक्षित है। संस्कृति-भाषा पढ़ानेका उद्देश्य होता है कि हम अपनी सभ्यता, संस्कृति, चिरसंचित ज्ञान और विज्ञानका परिचय प्राप्त करें और अपने पूर्वजोंकी रूढ़ियोंसे अलग न हो जायँ। इसीलिये हम संस्कृत पढ़ना प्रत्येक भारतीयका धर्म समझते हैं।

मातृभाषा वह है जो बालक अपनी माँके मुखसे सुनता है, किन्तु उक्त प्रश्नका उत्तर देनेके पहले यह भी समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक भाषाकी अनेक उपभाषाएँ और प्रत्येक उपभाषाकी अनेक बोलियाँ हुआ करती हैं। भाषाकी अपेक्षा उपभाषा और बोलीकी व्यापकता अधिक परिमित होती है। इस दृष्टिसे माता जिस भाषाकी उपभाषा या बोली बोलती है वही भाषा मातृभाषा कहलाती है। उदाहरणके लिये काशीवालोंकी भाषा बनारसी या भोजपुरी है। काशी-निवासी हिन्दीके विद्वानके घर आप जाइए तो आपको देखकर वे कहेंगे—नमस्कार, आइए पधारिए। बड़ी कृपा की आपने। कहिए कैसे कष्ट किया। और तत्काल अपने सेवकको पुकारेंगे—अरे भगेलुआ तनी पानी तो ला

आव। अर्थात् हम घरमें अपनी प्रादेशिक बोली बोलते हैं--किन्तु सामाजिक व्यवहारमें नागरी भाषाका व्यवहार करते हैं। अतः समाजके शिष्ट जन जिस भाषामें विचार-विनिमय काम-काज और लिखा-पढ़ी करते हैं, वही भाषा, शिक्षाकी दृष्टिसे मातृभाषा कहलाती है। अर्थात् यहाँ मातृ-भाषासे हमारा तात्पर्य्य उसी भाषासे है जिसके द्वारा हम परस्पर लिख और बोलकर अपने भाव व्यक्त करते हैं, जिसमें हमारे गद्य साहित्यकी रचना हो रही है, पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं तथा जो हमारे समाजके पढ़े-लिखे शिष्ट-जनोंके बोलचालकी तथा लिखा-पढ़ीकी भाषा है। अतः इस मातृभाषाकी शिक्षा देनेका यही उद्देश्य होगा कि हम नाग-रीमें शुद्ध लिख और बोल सकें, सत्साहित्यकी सृष्टि कर सकें, तथा समाजमें उचित तथा संस्कृत रूपमें व्यवहार कर सकें।

हमारी राष्ट्रभाषा, नागरी भाषाका वह व्यापक रूप है जिसे समूचे भारतमें तथा भारतसे बाहरके भी कुल मिला-कर कमसे कम बाईस करोड़ प्राणी बोलते और समझते हैं और जिसमें देश-भेदके अनुरूप संज्ञा विशेषण आदिके लिये तत्तत्प्रदेशीय शब्दोंका प्रयोग होता रहता है। राष्ट्रभाषासे अपरिचित व्यक्ति अपने ही देशके अन्य प्रान्तोंमें जानेपर भारी कठिनाईमें पड़ जा सकता है। हम भले ही राष्ट्रभाषा-के विद्वान् न हों, राष्ट्र भाषा भली प्रकार बोल भी न सके, पर समझ सकनेका अभ्यास तो अवश्य ही करना चाहिए। राष्ट्रभाषाका अध्ययन इसी उद्देश्यसे किया जाता है कि हम प्रत्येक देशवासीको अपनी बात समझा सकें और उसकी बात समझ सकें।

आजकल राष्ट्रभाषाका प्रश्न अत्यन्त सरल होते हुए भी

जटिल बना दिया गया है और यह विचार करना अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि हमारी राष्ट्रभाषा क्या हो। वास्तवमें देखा जाय तो संस्कृत ही आज भी हमारी राष्ट्र-भाषा है, जिसे समझनेवाले और बोलनेवाले कश्मीरसे लेकर लंकातक और सीमाप्रान्तसे लेकर ब्रह्मातक मिलेंगे—और यह संस्कृतका ही प्रभाव है कि भारतकी सभी देशी भाषाओंमें अधिकांश शब्द संस्कृतके तत्सम या तद्भव रूपमें व्यवहृत होते हैं। अतः हमारी राष्ट्रभाषाकी पहली पहचान तो यह होगी कि उसमें अधिकांश शब्द संस्कृत तत्सम या तद्भव हों।

इसके अतिरिक्त दूसरी महत्त्वको बात यह है कि राष्ट्र-भाषा उस प्रदेशकी भाषा हो सकती है जिसमें धार्मिक क्षेत्र हों, क्योंकि संपूर्ण देश चाहे और कहीं जाय या न जाय किन्तु धार्मिक क्षेत्रोंमें अवश्य जाता है। भारतके सर्वप्रधान धार्मिक क्षेत्र उत्तरीय भारतमें युक्तप्रान्तमें हैं। गंगोत्री, यमुनोत्री, बद्रीनाथ, हरद्वार, गढ़मुक्तेश्वर, प्रयाग, काशी, सोरों, अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन चित्रकूट आदि हिन्दुओं-के शैव और वैष्णव केन्द्र सब युक्तप्रान्तमें ही हैं। अतः यहाँकी भाषा ही राष्ट्रभाषा हो सकती है।

तीसरी बात यह है कि घने बसे हुए होनेके कारण युक्त-प्रान्तके लोग व्यवसाय और नौकरीके लिये भारत और भारतके बाहरके प्रदेशोंमें जा बसे। वे सभी अपनी भाषाकी परम्परा निभा रहे हैं और जिन देशोंमें वे गए हैं वहाँकी भाषा उन्होंने नहीं सीखी, वरन् उन्हें ही अपनी भाषा सीखनेको बाध्य किया है। भारतके अहिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तोंमें बड़े बाज़ारोंके व्यापारी और सेवक सब युक्तप्रान्त-

के ही हैं। बैंकोंके चपरासी, ट्राम या मोटर चलानेवाले, दूध, तरकारी, फल आदि बेचनेवाले तथा घरोंमें भोजन बनाने व नौकरी करनेवाले युक्तप्रान्तके भैया लोग ही हैं। भारतकी मिलोंमें भी अधिकांश काम करनेवाले युक्तप्रान्तके ही हैं। इनके अतिरिक्त मौरिशस, ट्रीनीडाड, डचगाइना, ब्रिटिश गाइना, नेटाल और दक्षिण अफ्रिकामें जो प्रवासी भारतीय हैं उनकी भी व्यवहार-भाषा हिन्दी ही है। अतः इस दृष्टिसे भी नागरी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है।

चौथी बात यह है कि राष्ट्रभाषा वह होनी चाहिए जिसे अधिकांश लोग बोल या समझ सकें। यदि हम युक्तप्रान्तमें कहते हैं—मुझे आपसे एक बात कहनी है, तो हमारे पंजाबी मित्र कहेंगे—मैं ने आपसे इक्क बात कैणी है। राजपूतानेके सज्जन कहेंगे—मुजै आपसे एक बात बोलणी है, और हमारे बंगाली मित्र कहेंगे—हाम आपको एक बात बोलने माँगता है। ये सब वक्तव्य नागरीके ही प्रान्तीय रूपान्तर हैं जो किसी प्रकारसे भी भाषाके बोलने या समझनेमें बाधा नहीं डालते।

विशुद्ध ज्ञानार्जनके लिये अथवा भाषाओंकी साहित्यिक प्रगति, उसके लेखकोंकी शैलियाँ आदिका अध्ययन कर अपनी भाषा और अपने साहित्यका तुलनात्मक विवेचन करने और अपना साहित्य-भांडार भरने तथा परराष्ट्रिय राजनीतिक संबंध-निर्वाहके उद्देश्यसे ही विदेशी भाषाओंका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इस दृष्टिसे संप्रति अंग्रेजीका ही ज्ञान प्राप्त करना उचित होगा जो कुछ अंशोंमें तबतक राजभाषा रहेगी जबतक हिन्दी पूर्ण रूपसे उसका स्थान नहीं ले लेती।

---

## २

# संस्कृत भाषाका ध्वनितत्त्व

## शास्त्रीय विवेचन

हमारे वर्णोंकी मूल ध्वनियाँ प्रधानतः दो समूहोंमें विभक्त हैं जिन्हें स्वर और व्यञ्जन कहते हैं। इनकी संख्या पाणिनीय शिक्षाके अनुसार ६३ अथवा ६४ है।[1] अ आ आ३, इ ई ई३, उ ऊ ऊ३, ऋ ॠ ॠ३, लृ, ए ए३, ऐ ऐ३, ओ ओ३, औ औ३, क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व श ष स ह, चार यम[2], अनुस्वार ( ं ), विसर्ग ( ः ), ᳵ क् जिह्वामूलीय, और ᳵ प् उपध्मानीय, प्लुत लृकार और दुःस्पृष्ट।

लौकिक संस्कृतमें प्रयुक्त वर्णमालाके अनुसार अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, स्वरवर्ण कहलाते हैं। क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह व्यञ्जन वर्ण

---

१—त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
संस्कृते प्राकृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा॥
स्वराः विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः।
यादश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ᳵक ᳵ पौ चापि पराश्रितौ।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकारः प्लुत एव च॥

२—वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः ( पलिक्क्नी चख्ख्नतुः अग्ग्निः घ्घ्नन्ति। ( सिद्धान्तकौमुदी संज्ञाप्रकरण )

## नागरीके व्यंजनोंका कोष्ठक

| उच्चारणकरण --> | | ओष्ठ | | जिह्वाग्र | जिह्वाग्र | जिह्वोपाग्र | जिह्वाग्र | जिह्वोपाग्र | जिह्वाग्र | जिह्वामध्य | जिह्वामूल | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प्रयत्नकृत भेद | स्थानकृत भेद --> | द्वयोष्ठ्य | दन्त्योष्ठ्य | दन्त्य | वर्त्स्य | दन्त्य-वर्त्स्य | तालव्य | तालु-वर्त्स्य | मूर्धन्य | कंठ्य | जिह्वामूलीय | काकल्य |
| स्पर्श | अल्पप्राण | प् ब् | | त् द् | | | | | ट् ड् | | क् ग् | *क़् |
| | महाप्राण | फ् भ् | | थ् ध् | | | | | ठ् ढ् | | ख् घ् | |
| स्पर्शसंघर्षी | अल्पप्राण | | | | | | | च् ज् | | | | |
| | महाप्राण | | | | | | | छ् झ् | | | | |
| अनुनासिक | अल्पप्राण | म् | | | न् | | ञ् | | ण् | ङ् | | |
| | महाप्राण | +म्ह् | | | +न्ह् | | | | | | | |
| पार्श्विक | अल्पप्राण | | | | ल् | | | | | | | |
| | महाप्राण | | | | +ल्ह् | | | | | | | |
| लुंठित | अल्पप्राण | | | | र् | | | | | | | |
| | महाप्राण | | | | +र्ह् | | | | | | | |
| उत्क्षिप्त | अल्पप्राण | | | | | | | | ड़् (ळ्) | | | |
| | महाप्राण | | | | | | | | ढ़् (ह्ळ्) | | | |
| घर्ष<br>अन्तस्था (अर्द्ध-स्वर) | | व् | *फ़् व् | | | स् *ज़् | श् य् | | ष् | व् (संयुक्ताक्षरमें) | *ख़् *ग़् | ह् (:) ह् |

देखिए—रेखाङ्कित ध्वनियाँ श्वास-ध्वनियाँ हैं। अन्य सभी ध्वनियाँ नाद-ध्वनियाँ हैं।

\+ ऐसे चिन्ह जिन ध्वनियों के पूर्वमें हैं वें ध्वनियाँ आधुनिक भाषा-शास्त्रियों की सम्मतिके अनुसार नई विकसित हुई हैं।

* ऐसे चिन्ह ध्वनियों के पूर्वमें हैं वे अरबी-फारसीके तत्सम शब्दों में प्रयुक्त होती हैं।

कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त अनुस्वार ( ं ), विसर्ग ( ः ) और अनुनासिक ( ँ ) का भी प्रयोग मिलता है। इस सम्बन्धमें सबसे अधिक ध्यान देने की बात इन वर्णों के उच्चारण-स्थानका निर्देश है। नीचे दिए कोठेसे विदित होगा कि इन वर्णोंका क्रम सर्वथा वैज्ञानिक पद्धतिपर निश्चित किया गया है। वे एक क्रमसे सजाए गए हैं। ऐसा नहीं किया गया है कि कण्ठ्य वर्णके पश्चात् ओष्ठ्य वर्ण हो और उसके पश्चात् तालव्य वर्ण आ जाय तथा फिर तुरंत ही दूसरे कण्ठ्य वर्णको स्थान दे दिया गया हो।

| वर्ण | उच्चारण स्थान | वर्ग |
|---|---|---|
| अ आ, ह * | कण्ठ | स्वर, अन्तस्थ |
| क ख ग घ ङ * | जिह्वामूल | कवर्ग |
| इ ई, च छ ज झ ञ, य श | तालु | स्वर, चवर्ग, अंतस्थ |
| ऋ ॠ, ट ठ ड ढ ण, र ष | मूर्द्धा | स्वर, टवर्ग, अन्तस्थ |
| ऌ, त थ द ध न ल स | दन्त | स्वर, तवर्ग, अंतस्थ |
| उ ऊ, प फ ब भ म | ओष्ठ | स्वर, पवर्ग |
| ए ऐ | कण्ठ-तालु | स्वर |
| ओ औ | कण्ठोष्ठ | स्वर |
| व | दंतोष्ठ | अन्तस्थ |

* 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार 'अ आ ह क ख ग घ ङ' के उच्चारणका स्थान कण्ठ है। किन्तु स्वर्गीय ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने इसमें संशोधन करते हुए 'अ आ ह' का उच्चारणस्थान कण्ठ तथा कवर्गका उच्चारण-स्थान जिह्वामूल निर्दिष्ट किया है। 'जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः'। पाणिनीय शिक्षापर उक्त मत 'क ख ग' के सम्बन्धमें है। पर इनका प्रयोग संस्कृतमें नहीं होता। विदेशी शब्दों में—क़ाग़ज़ आदिमें—

इसी सम्बन्धमें यहाँ एक और बात भी कह देनी अत्यावश्यक है। किसी कार्यके करनेके पूर्व हमें उस कार्यका ज्ञान होता है, तदनन्तर इच्छा होती है, और तब मनुष्य उसके लिये यत्न करता है। इसी प्रकार शब्दोच्चारणमें भी अनेक प्रक्रियाएँ पहले हो चुकती हैं तब मनुष्य शब्दोच्चारण करता है। पाणिनि मुनिने अपनी शिक्षामें इस विषयकी कुछ महत्त्व-पूर्ण बातें कही हैं जो अवश्यमेव ध्यानमें रखनेकी हैं। उन्होंने कहा है—

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः॥
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः।
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः॥

अर्थात् शब्दोच्चारणके पूर्व आत्मा बुद्धिके साथ मिलकर अर्थ-ज्ञान करता है तदनन्तर वह मनको बोलनेकी इच्छासे प्रेरित करता है। मन शरीरकी अग्निपर आघात करता है जिसके कारण अग्नि वायुको प्रेरित करता है। वह वायु हृदय स्थानमें पहुँचनेपर गम्भीर ध्वनि उत्पन्न करता है। वहाँसे चलकर फिर वह ऊपर जाकर मूर्धासे टक्कर खाकर लौटता है और मुखमार्गसे बाहर निकलता हुआ विभिन्न प्रकारकी ध्वनियाँ उत्पन्न करता है। इन वर्णोंमें

---

होता है। पर उनका ग्रहण नागरीमें तद्भव रूपमें होना चाहिए, तत्सम रूपमें नहीं। अतः इन नवीन ध्वनियोंके स्वीकारकी कोई आवश्यकता हमारी नागरीमें नहीं है। हमारा कार्य क ख ग आदि से 'कागज' लिखकर चल जायगा।

कारणके अनुसार पाँच भेद माने जाते हैं:—स्वरकृत भेद, कालकृत भेद, स्थानकृत भेद, आभ्यन्तर प्रयत्नकृत और बाह्य प्रयत्नकृत भेद।

भौगोलिक प्रभावके कारण तथा अपने यहाँ सविधि उच्चारण सिखानेकी व्यवस्था छूट जानेसे संस्कृत भाषा-भाषी भी इन ध्वनियोंके उच्चारणमें भूल करने लगे। कुछ वर्ण तो ऐसे भी हैं जिनके वास्तविक उच्चारणका हमें आज भी पता नहीं लगता। संस्कृत ध्वनियोंका उच्चारण भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें भिन्न-भिन्न ढंगसे होने लगा है। संस्कृत वर्णमालाको पंजाबमें का, खा, गा, घा पढ़ते हैं, पश्चिमीय संयुक्तप्रान्तमें कै खै गै घै, बिहारवाले प्रत्येक वर्णका उच्चारण हल्का ओकार लगाकर किया करते हैं और बंगाली तो स्पष्ट गोल मुँह बनाकर सभी अक्षरोंको गोल करते हुए को खो गो घो पढ़ते हैं। बंगालियोंका अशुद्ध उच्चारण तो साहित्यिक कहानीकी वस्तु हो गई है। आज ही नहीं, न जाने कबसे बंगाली लोग भारतीय ध्वनियोंका अशुद्ध उच्चारण करते आ रहे हैं। इस सम्बन्धमें किसी पुराने परिहासप्रिय संस्कृत कविका निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है जिसमें वङ्गीय उच्चारणसे व्याकुल होकर सरस्वतीजी ब्रह्माजीसे निवेदन करती हैं कि या तो बंगाली लोग गाथा पढ़ना छोड़ दें या आप कोई नई सरस्वती बनाइए श्लोक यह है—

ब्रह्मन्विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया।
गौडस्त्यजतु वा गाथामन्यावास्तु सरस्वती॥

संतोषकी बात है कि पूरबी संयुक्तप्रान्त, महाराष्ट्र और नागरी भाषा-भाषी मध्यप्रान्तके लोग संस्कृत ध्वनियोंका

शुद्ध उच्चारण करते हैं। इस सम्बन्धमें सबसे बढ़कर चमत्कारकी बात तो यह है कि जो लोग पृथक् ध्वनियोंका विकृत उच्चारण करते हैं वे भी उनसे शब्द बन जाने पर उसका शुद्ध उच्चारण करने लगते हैं। उदाहरणके लिए अलग-अलग 'कै लै मै' कहने वाले भी 'कलम' ही लिखते और पढ़ते हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, संस्कृत वर्णमालामें कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैं जिनका प्रयोग उठ चुका है या जिनका उच्चारण इस समय अनिश्चित है। अतः इनका यहाँ संक्षिप्त इतिहास दे देना अनुचित न होगा।

वैदिक संस्कृतमें 'ह्रस्व' अ का उच्चारण विवृत होता था। पर यह प्रारम्भिक अवस्थाकी बात है। अनन्तर लौकिक संस्कृत एवं प्रातिशाख्यों और पाणिनीय शिक्षादिके द्वारा इसका उच्चारण आजकलकी भाँति संवृत ही होता था।

'ऋ' और 'लृ' का भी उच्चारण वैदिक कालमें भिन्न होता था। 'र' ध्वनि तो इसके साथ उच्चरित होती ही थी—जिसका प्रमाण हमें ऋक् प्रातिशाख्य और महाभाष्यके अध्ययनसे प्राप्त है, पर इसका ठीक-ठीक उच्चारण क्या था यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। पाली और प्राकृतमें 'ऋ' का प्रयोग नहीं मिलता है। 'ऋ' के स्थानपर कभी 'अ' कभी 'इ' और कभी 'उ' हो जाते हैं। जैसे—'कृत' का 'कद', 'ऋषि' का 'इसि' और 'वृक्ष' का 'रुक्ख'। ऋ के उक्त तीन विकार संस्कृतमें भी उपलब्ध हैं—'कृ' का 'करण', तृ का 'तीर्ण' और 'पृ' को 'पूर्त्ति'। ऐसी स्थितिमें 'ऋ' का उच्चारण न तो 'अम्रु ताञ्जन' वाला ठीक है और न 'रिषि' ही उचित है।

'लृ' का प्रयोग तो वैदिक संस्कृतमें भी अत्यल्प मात्रामें होता था। लौकिक संस्कृतमें तो 'लृ' का प्रयोग एक तरहसे होता ही नहीं था*। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों-का कहना है कि प्राचीन लृ का उच्चारण अँगरेजीके 'लिटिल्' शब्दमें उच्चरित होने वाले 'ल्' के समान था। अस्तु क्या था इसे कहनेका कोई प्रबल आधार न मिलनेसे उस विषयमें मौन ही रहना उचित है। संस्कृतके पश्चात् पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दीमें 'लृ' का प्रयोग सर्वथा उपलब्ध नहीं है।

ए ऐ ओ औ को वैदिक और लौकिक संस्कृतमें सन्ध्य-क्षर माना है। इनके उच्चारण-स्थान भी (एदैतोः कण्ठ-तालुः। ओदौतोः कण्ठ्योष्ठम्) एक न होकर दो कहे गए हैं। महाभाष्यमें भी इन्हें सन्ध्यक्षर ही माना है। इसी आधारपर यह कल्पना की जाती है कि इन चार अक्षरोंका उच्चारण एक स्वरके समान नहीं किन्तु दो स्वरोंके समान—सन्ध्यक्षरके समान—होता रहा होगा पर इनका ठीक-ठीक उच्चारण क्या था यह संदिग्ध ही है। पर प्रायः 'ए' 'ओ' 'ऐ' 'औ' का प्राचीन उच्चारण क्रमशः 'अइ' 'अउ' 'आइ' 'आउ' माना जाता है। इसका आधार उक्त कथनके अतिरिक्त यह भी है कि सन्धि-

---

* अथ लृकारोपदेशः किमर्थः। किं विशेषेण लृकारोपदेशश्चोद्यते न पुनरन्येषां वर्णानामुपदेशश्चोद्यते। यदि किञ्चिदन्येषामपि वर्णानामुपदेशे प्रयोजनमस्ति लृकारोपदेशस्यापि तद्भवितुमर्हति। को वा विशेषः। अयमस्ति विशेषः। अस्य लृकारस्याल्पीयांश्चैव प्रयोगविषयः यश्चापि प्रयोगविषयः स क्लृपिस्थस्यैव। (महाभाष्य १।१।२।२।)

स्थलोंके 'ए' 'ओ' 'ऐ' 'औ' की रचना 'अ+इ' 'अ+उ' 'अ+ए' 'अ+ओ' के योगसे भी होती है। 'अए' अओ' भी ऐ औ का एक उच्चारण माना जाता है जो आधुनिक नागरीमें उपलब्ध है। पर हिन्दीकी स्थिति कुछ विचित्र है। आधुनिक नागरीमें ए ओ का उच्चारण एक स्वर सा होता है और 'ऐ औ' का सन्ध्यक्षर सा। अतः कुछ निर्णय करने के पूर्व इन वर्णोंके इतिहासपर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए। संस्कृतमें ये स्वर संयुक्ताक्षर माने गए हैं यह कहा जा चुका है। पाली और प्राकृतमें ए ओ तो उपलब्ध हैं, पर ऐ औ नहीं मिलते। प्राकृतमें प्रायः ऐ का ए और औ का ओ हो जाता है। पर कुछ ऐसे परिवर्त्तन भी उपलब्ध हैं, जो कि आधुनिक नागरी उच्चारणके कारण माने जा सकते हैं। प्राकृतमें 'दैत्य' शब्दके 'दै' का उच्चारण 'दइ' और पौरवके 'पौ' का 'पउ' हो जाता है। अतः संस्कृत-कालमें चाहे इनका उच्चारण सन्ध्यक्षर सा भी रहा हो पर आज-कल हमारा आधुनिक उच्चारण निराधार नहीं है। प्राकृत कालसे ही इनका उच्चारण आज सा है। अतः ऐ औ का शुद्ध उच्चारण 'अइ' 'अउ' ही मानना चाहिए। किन्तु वृद्धि-सन्धिके नियमानुसार इनका निर्माण अ+ए, अ+ओ से होने का कारण इनका उच्चारण 'ऐसा' तथा 'औरत' आदि शब्दोंमें होने वाले 'ऐ' 'औ' का भी प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

प्राकृतके व्याकरणोंमें तो नहीं पर गाथाओंमें ह्रस्व 'ए ओ' मिलते हैं। लौकिक संस्कृतमें यद्यपि ह्रस्व 'ए ओ' उपलब्ध नहीं हैं किन्तु किन्तु वेदकी 'सात्यमुग्रिराणायनीय' शाखामें ह्रस्व ए ओ का उच्चारण होता था जिसका ज्ञान आज हमें

महाभाष्यसे प्राप्त है,[1] एवं आज भी दक्षिणके सात्यमुग्रिराणायनी ए ओ का उच्चारण ह्रस्व ही करते हैं।

भारतके विभिन्न प्रदेश-वासियोंके उच्चारणका सूक्ष्म निरीक्षण बारहवीं शताब्दीके राजशेखरने भी किया था। उनका इस विषयका एक श्लोक काव्यमीमांसासे उद्धृत किया जाता है।

गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः।
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।
आवन्त्याः पारियात्राः सहदशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते।
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः॥

[गौड़ आदि देशोंके निवासी संस्कृतके प्रेमी होते हैं, गुजरात (लाट) के निवासियोंकी रुचि प्राकृतकी ओर अधिक रहती है, सम्पूर्ण मरु देशके वासियोंके उच्चारण अपभ्रंशके समान होते हैं और उनमें ट, क्क और भ आदिकी प्रचुरता रहती है। अवन्ती, परियात्र और दशपुरके निवासी पैशाचीसे अधिक स्नेह रखते हैं किन्तु मध्यदेशका रहनेवाला भारतके मध्यमें रहनेके कारण सभी भाषाओंमें निष्णात होता है।] उक्त उदाहरणसे मध्यदेश-निवासियोंकी उच्चारण-पटुतामें कोई सन्देह नहीं रह जाता। आज भी युक्तप्रान्त-निवासी जैसे भाषा-पटु हैं वैसे अन्य प्रदेशीय नहीं हैं।

---

१. ननुचैङः सस्थानतरावर्द्धएकारोऽर्द्ध ओकारः। न तौ स्तः। यदि तौ स्यातां तावेवायमुपदिशेत्। ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्द्धमेकारमर्द्धमोकारं चाधीयते। सुजाते ए अश्वसूनृते। अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम्। शुक्रं ते ए अन्यत्। यजतं ते ए अन्यत्। इति। (महाः—एओङ्, एऔच्)

'ङ' का प्रयोग तत्सम शब्दोंमें होता है, जैसे 'गङ्गा' 'विहङ्गम' 'अङ्ग' आदिमें। किन्तु इनका काम अनुस्वारके द्वारा चलाया जाने लगा है जो अनुचित है।

'ञ' का प्रयोग भी विकृत हो गया है। 'चञ्चल' 'अञ्चल' आदि भी वस्तुतः चन्चल, अन्चल ही पढ़े जाते हैं। केवल अनुकरणात्मक 'साञ् साञ्' आदिमें ही 'ञ' का उच्चारण होता है। इसी प्रकार संयुक्ताक्षरमें आनेवाला 'ण' भी 'कुण्ठित' 'दण्ड' में 'न' के रूपमें ही उच्चरित होता है। पर पञ्चम वर्ण-संयुक्त वर्णोंकी उपयुक्त स्थितिका एक कारण भी है। महाभाष्यकार पतञ्जलिने भी कहा है कि अनुस्वार और ङ, ञ, ण, न, म, के पश्चात् यदि क, ख, ग, घ, च, छ, ज, झ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, प, फ, ब, भ, श, ष, स, ह आवें तो उन्हें (अनुस्वार और ङ, ञ, ण, न, म को) नकारोत्पन्न ही समझना चाहिए। ऐसी स्थितिमें कुछ वर्गोंके पंचम वर्णोंका 'न' जैसा उच्चारण अकारण नहीं है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, संस्कृत वर्णमालामें कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैं जिनका उच्चारण इस समय अनिश्चित है। ङ ञ ऋ ष लृ क्ष और ज्ञ ऐसे ही अक्षर हैं। ऋ ष क्ष और ज्ञ का उच्चारण भ्रमात्मक और अनिश्चित हो रहा है। लोग प्रायः ऋ का उच्चारण ह्रस्व 'रि' की तरह किया करते हैं। वे यह भूल करते हैं। रि और ऋ के समान उच्चारणका भ्रम शायद दोनोंके मूर्धन्य होनेका परिणाम है। वास्तवमें रि तो र पर ह्रस्व इकारकी मात्रा लगाकर बनती है परन्तु ऋ का उच्चारण हल्का एकार लगाकर होता है। कृपण, कृषि, सरीसृप आदिमें लगा हुआ

र इसी ऋ का दूसरा रूप है। इनको हम इस प्रकार लिख सकते हैं—क्रे्पण, क्रे्षि तथा सरीस्रे्प।

ष की स्थिति भी ऋ से मिलती-जुलती है। संस्कृत वर्णमालामें यद्यपि दन्त्य स, तालव्य श और मूर्धन्य ष अलग अलग स्पष्ट निश्चित किए गए हैं फिर भी लोग तालव्य श और मूर्धन्य ष में भेद नहीं करते और इसी झमेलेमें शेषजी त्रिपाठी बेचारे शेखजी त्रिपाठी हो गए। मूर्धन्य ष को या तो लोग तालव्य श पढ़ते हैं या सीधे ख पढ़ते हैं। इन वर्णोंमें परस्पर इतना स्पष्ट अन्तर होते हुए भी भ्रमात्मक उच्चारण करना अपनी अनभिज्ञताका विज्ञापन देना है।

यद्यपि ऊपरकी विवेचनासे यह स्पष्ट है कि आजकल हमारे यहाँ 'श' और 'ष' के उच्चारणमें भेद नहीं रह गया है तथापि यह परम्परा आजकी नहीं है। हमको यह परम्परा हमारी पूर्ववर्त्तिनी भाषाओंसे मिली है। 'श' 'स' और 'ष' के उच्चारणका विभेद तो संस्कृत-तक उपलब्ध है, पर पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदिमें यह भेद नहीं दिखाई पड़ता। पालीमें 'श' 'ष' और 'स' के लिये केवल दन्त्य 'स' का ही प्रयोग होता था। इसी प्रकार शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतमें भी तीनों ध्वनियोंके स्थानपर केवल 'स' का ही प्रयोग होता था। मागधी प्राकृतमें तीनों ध्वनियोंके स्थानपर केवल तालव्य 'श' का ही प्रयोग होता था। यही परम्परा हमें भी प्राप्त हुई। और यद्यपि संस्कृतमें हमें तीनों ध्वनियोंका प्रयोग करना पड़ता है परन्तु उच्चारण अबतक केवल दन्त्य 'स' और तालव्य 'श' इन दो का ही करते हैं। वास्तवमें ष का उच्चारण मूर्धासे करना चाहिए।

यहाँ यह भी बताना अनुचित न होगा कि संस्कृतके पंडित लोग ष्टोष्टुनाष्टुः सूत्रके अनुसार पोस्ट शब्दको पोष्ट कहने लगे हैं। यह संस्कृतके व्याकरणका दुरुपयोग है।

ऐसा ही भ्रम 'क्ष' के उच्चारणमें भी दिखाई देता है। विभिन्न स्थानोंमें लोग क्ष का उच्चारण च्छ, क्श या क्स के समान करते हैं। परन्तु संस्कृत क्ष वास्तवमें क् और मूर्धन्य ष के योगसे बनता है। प्रमाणके लिये ब्राह्मी शिलालेखोंमें आए हुए क्ष को देखना चाहिए। उसमें क और ष के संयोगसे बना हुआ क्ष का यह रूप देखनेमें आता है—

क ष = क्ष

इसके अतिरिक्त संस्कृत व्याकरण पढ़नेवाला एक साधारण विद्यार्थी भी यह जानता है कि 'क् ष संयोगे क्ष' होता है। इसी प्रकार 'धुक्षु' 'मोक्ष' आदिमें 'क्ष' की रचना भी क् + ष से ही होती है। अस्तु, इसके उच्चारणमें सन्देहका तनिक भी स्थान न रहना चाहिए।

सबसे अधिक गड़बड़ी ज्ञ के उच्चारणमें पाई जाती है। पंजाबवाले इसे शुद्ध ग्य बोलते हैं। संयुक्तप्रान्त और मध्यप्रान्तमें ग्याँ का प्रचार है। महाराष्ट्रमें यही वर्ण द्न्य उच्चरित होता है गुजरातमें ग्न होता है और वेदपाठी-मण्डल इसका उच्चारण ज्ञ करता है।

इस सम्बन्धमें हमें सूत्र मिलता है, 'जञोर्ज्ञः' जो यह प्रमाणित करता है कि ज्ञ न तो ग और ञ से बना है, न ग और न से और न तो द् न् और य से, बल्कि यह अक्षर ज और ञ के संयोगसे बनता है। दूसरी ओर ईसासे सौ वर्ष

पूर्ववाले पभोसाके ब्राह्मी शिलालेखसे भी यही बात प्रमाणित होती है, जिसमें ब्राह्मी ज और ञ के योगसे बना हुआ ज्ञ इस प्रकार लिखा मिलता है—

E h = ज्ञ
ज ञ = ज्ञ

तीसरा प्रमाण यह है कि सर्वथा प्राचीनतावादी वैदिक-मंडली भी ज्ञ ही उच्चारण करती है। संस्कृतमें 'ज ञ संयोगे ज्ञ' कहा भी जाता है।

अनेक स्थलों पर 'ज्ञ' वर्ण की रचना भी ज् + ञ के योगसे ही होती है। अस्तु वेदकी विभिन्न शाखाओंमें प्रातिशाख्यों और शिक्षाओं के अनुसार चाहे उच्चारणमें कुछ वैचित्र्य हो किन्तु संस्कृतमें इसका उच्चारण ज्ञ ही ह ना उचित है।

---

३

# शुद्ध उच्चारणकी महत्ता और शिक्षा

वर्णोंके उच्चारण-स्थानका निश्चय हो जानेपर यह प्रश्न सामने आता है कि शुद्ध उच्चारण करनेका अभ्यास किस प्रकार कराया जाय। उच्चारण सिखानेकी विधियोंका निर्देश करनेसे पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि हमारी भाषा-ध्वनियाँ हमारे शरीरके किन अंगोंकी क्रियाओं और गतियोंसे उत्पन्न होती हैं। सर्व-प्रथम हमें बालकोंकी श्वास-गतिका ध्यान रखना चाहिए अर्थात् उन्हें श्वास भीतर लेने, उसे रोक रखने और नियमित रूपसे उसका प्रयोग करनेका अभ्यास कराना चाहिए। बाहरका वायु श्वासनलिका द्वारा फेफड़ेमें पहुँचता है। इस श्वासनलिकाके सिरेपर स्वरयन्त्र है जिससे श्वासके आघातसे संपूर्ण ध्वनियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। स्वरयन्त्रसे ध्वनि निकलनेके पश्चात् हम उसे तीन प्रकारसे संचालित कर सकते हैं—(१) स्वरोंका उच्चारण करते समय मुँहका रूप बदलनेसे, (२) व्यञ्जनोंका उच्चारण करते समय जीभ, दाँत, ओठ तथा तालुके द्वारा, और (३) प्रभावोत्पादक करनेके लिये कंपन-यन्त्रों द्वारा, अर्थात् स्वर-यन्त्रके पल्लों, कण्ठनाली, नासारन्ध्रके ऊपरके अस्थिविवर, माथेके पीछेके अस्थिविवर, नासारन्ध्र तथा कठिन तालु द्वारा।

शब्दोच्चारण किस तरह करना चाहिए यह पाणिनीय और याज्ञवल्क्य शिक्षामें बहुत सुन्दर ढंगसे बतलाया गया है। वर्णोच्चारणकी विधि बतलाते हुए कहा गया है—

व्याघ्री यथा हरेत्पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत् ।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत् ॥
मधुरं च न चाव्यक्तं व्यक्तं चापि न पीडितम् ।
सनार्थैकस्यदेशस्य न वर्णाः संकरं गताः ॥
यथा सुमत्तनागेन्द्रः पदात्पदं निधापयेत् ।
एवं पदं पदाद्यंतं दर्शनीयं पृथक् पृथक् ॥
[ याज्ञ० शि० १०२-१०४ ]

शङ्कितं भीतमुद्घृष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ॥
काकस्वरं शिरसिगं तथा स्थानविवर्जितम् ॥
उपांशु दष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम् ।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरं च वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम् ॥
॥ ३४-३५ ॥

गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति ।
प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दंतोष्ठौ यस्य शोभनौ ॥
प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान् वक्तुमर्हति ।
शङ्कितं भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ॥
काकस्वरं मूर्ध्नि गतं तथा स्थानविवर्जितम् ।
विरसं विस्वरं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम् ॥
व्याकुलं तालहीनं च पाठदोषाश्चतुर्दश ।

अर्थात् जिस प्रकार बाघिन अपने बच्चोंको मुँहमें लेकर चलती है कि न तो बच्चोंको दाँत ही चुभें और न वे मुँहसे ही गिरें, ठीक उसी प्रकार शब्दोच्चारण भी करना चाहिए। तात्पर्य यह कि न तो अक्षर चबा-चबाकर बोले जायँ कि मुँहमें ही रह जायँ और न ऐसा हो कि वे मुँहसे गिर पड़ें और स्पष्ट एक दूसरेसे अलग टूटे हुए सुनाई दें ।

वर्ण मधुर हो, स्पष्ट हो पर इतना स्पष्ट भी न हो कि बहुत

प्रयत्नसे बोला हुआ जान पड़े। सब वर्ण अपने अपने स्थानपर ठीक और पूरे उच्चारण किए जायँ, एक दूसरेमें मिल न जायँ। जैसे मतवाला हाथी एक पैरके बाद दूसरा पैर रखता है उसी प्रकार एक एक पद और पदान्तको अलग-अलग स्पष्ट बोलना चाहिए।

शङ्कित होकर, डरकर, चिल्ला-चिल्लाकर, अस्पष्टताके साथ, नाकसे, कौवेके स्वरमें, मूर्धास्थलसे ही उच्चारण कर, उचित स्थानोंसे उच्चारण न करके, मुँहमें ही वर्णोंको काटकर, वेगसे फेंकते हुएसे, रुक-रुक कर, गद्गद स्वरमें, गा-गाकर, वर्णोंको चबाचबा कर, पदों और अक्षरोंको पूर्ण रूपसे उच्चारण न कर अपूर्ण उच्चारण करके, दीनतायुक्त स्वरमें और सभीको अनुनासिक बनाकर बोलना उचित नहीं है।

याज्ञवल्क्य शिक्षामें भी ये ही बातें दुहराई गई हैं।

बोलनेमें कण्ठका गद्गद होना और जीभका बँधजाना उचित नहीं है। इस प्रकार बोला नहीं जा सकता। जिसकी प्रकृति अच्छी है, जिसके दाँत और ओठ अच्छे हैं, जो उच्चारणमें प्रगल्भ एवं विनीत है, वह वर्णोंका उचित उच्चारण कर सकता है। शंकित, भयभीत, चिल्ला-चिल्लाकर, अस्पष्ट, नकिया नकियाकर, कौवेके स्वरमें, मूर्धासे ही सभीका उच्चारण करके, उचित स्थानसे उच्चारण न करके, नीरस ध्वनिमें, सुस्वर-रहित, अलग-अलग बेढंगे रूपसे बलाघात करके, व्याकुलता-पूर्वक एवं ताल-हीन पढ़ना पढ़नेवालेके चौदह दोष हैं।

उसी शिक्षामें आगे चलकर भले-बुरे ढंगसे पढ़नेवालोंके भी गुण-दोष बतलाए गए हैं।

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः ॥
गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥

मिठास, अक्षरोंकी स्पष्टता, पदोंका पृथक्-पृथक् उच्चारण, सुन्दर स्वर, धीरता और लयके अनुसार पढ़ना—पाठकर्त्ताके ये छः गुण हैं। इसके विपरीत गाकर, हड़बड़ीमें, सिर हिलाते हुए, चुपचाप, अर्थ समझे बिना या दबे स्वरमें पढ़नेवाला अधम पाठक है।

शब्दोच्चारणकी सम्यक् शिक्षा देनेके समय प्राचीन भारतीय पंडित स्वर और वर्णपर बहुत ध्यान देते थे। उनका ऐसा करना उचित भी था क्योंकि यदि स्वर और वर्ण ठीक न हों तो केवल शब्दोंका ठीक-ठीक उच्चारण करनेसे ही बात समझमें नहीं आ सकती। एक उदाहरण लेकर देखिए कि शुद्ध उच्चारण करनेपर भी स्वर और वर्णका मिथ्या प्रयोग कितना उलटफेर कर देता है। एक छोटासा वाक्य "मैं ने मारा है" ले लीजिए। इसको पढ़ते समय यदि 'मैं ने' पर बल दिया जायगा तो ऐसा जान पड़ेगा मानो प्रश्न किया जा रहा है। 'मारा' के साथ 'है' पर बल देनेसे यही वाक्य यह अर्थ देने लगेगा कि मैं ने ही मारा है और इसके लिये मैं किसीसे डरता नहीं हूँ। इस सम्बन्धमें एक वैदिक कथा उल्लेखनीय है जिसमें इन्द्रके वधकी कामनासे उसके शत्रुने माला जपनी प्रारम्भ की परन्तु स्वरके मिथ्या प्रयोगके कारण वह स्वयं मारा गया। *

* एकः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

अतः शिक्षकोंको शुद्ध उच्चारण पर ध्यान देनेके साथ-साथ शुद्ध स्वर और वर्णपर भी ध्यान देना चाहिए। यहाँ उच्चारणसे सम्बन्ध रखनेवाली एक बात कह देनी आवश्यक है। महाभाष्यमें एक वाक्य आया है—'उदात्ते कर्तव्ये योऽनुदात्तः करोति खण्डिकोपाध्यायः तस्मै चपेटां ददाति।' अर्थात् उदात्त स्वरके स्थानपर यदि शिष्य अनुदात्त कर देता है तो खड़ियाके सहारे पढ़ाने वाला अध्यापक उसे चट एक झापड़ लगा देता है। इस उद्धरणसे यह स्पष्ट विदित है कि उच्चारण-शुद्धतापर—केवल ध्वनियोंकी शुद्धतापर ही नहीं किन्तु स्वरोंकी शुद्धतापर भी—प्राचीन कालसे ही बड़ा ध्यान दिया जाता था।

याज्ञवल्क्य-शिक्षा और पाणिनीय शिक्षाके पाठ-दोष और पाठ-गुण एवं स्वरकी शुद्धतापर विचार इस बातके सूचक हैं कि भारतीय प्राचीन परम्पराके शुद्ध उच्चारणमें भी स्वरोंका यथार्थ प्रयोग बड़े महत्त्वका विषय था। खण्डिकोपाध्याय भी वर्णोंकी अशुद्धि मात्रका शिक्षण नहीं करता था वरन् उदात्त-अनुदात्त उच्चारणका भी वह ध्यान रखता था।

उपर्युक्त विवेचनका सारांश यह है कि हमारे मुखसे निकले हुए स्वर शुद्ध हों और व्यञ्जन स्पष्ट हों। संस्कृत भाषामें यह विशेषता है कि अक्षरोंकी ध्वनियाँ निश्चित हैं अतः उच्चारणमें कोई असुविधा नहीं होनी चाहिए। किन्तु इस विशेषताके होते हुए भी अनेक भाषाओंके संसर्गसे तथा अनेक भाषा-भाषियोंके संसर्गसे उच्चारणमें दोष आ ही गए हैं।

स्वरयन्त्रोंके अनुचित प्रयोगके उदाहरणोंमें 'श' का 'स'

या 'स' का 'श' या 'र' का 'ज़' के समान उच्चारण करना तथा तोतला बोलना आदि हैं। ये दोष प्रायः उन बालकोंमें आ जाया करते हैं जिनके स्वरयन्त्र विकृत हो गए हैं, या जो रोगी हैं या जो दूसरोंका अनुकरण करते हैं।

उच्चारण शुद्ध करनेकी तीन विधियाँ हैं—(१) आवृत्ति पुनरावृत्ति, अर्थात् बारबार अभ्यास कराकर ठीक कर देना। (२) स्थान-परिवर्त्तन अर्थात् अशुद्ध बोलने-वालोंके पाससे हटाकर शुद्ध बोलनेवालोंकी संगतिमें रखना। (३) द्रुत तथा अस्पष्ट बोलनेसे रोककर धीरे-धीरे अक्षर-अक्षर स्पष्ट बोलनेका अभ्यास कराना।

कक्षामें अध्यापक पहली तथा तीसरी प्रणालीका प्रयोग करके सफलता प्राप्त कर सकता है, क्योंकि दूसरी विधिके प्रयोगके लिये भारतीय अध्यापक विवश हैं। हमारे सम्पूर्ण ज्ञानका आधार अनुकरण है अतः अच्छे वक्ताकी वाणीका यह प्रभाव होता है कि श्रोता केवल उसकी शुद्धता ही नहीं ग्रहण करते वरन् उसके स्वरका भी अनुकरण करते हैं। अतः सर्वोत्कृष्ट विधि यही है कि अध्यापक स्वयं उच्चारण करके बालकोंसे बार-बार शुद्ध उच्चारण करावें।

यहाँ एक बात और भी स्मरण रखनेकी है। कभी-कभी हम लोगोंकी यह प्रवृत्ति होती है कि हम एक शब्दके केवल एक अक्षरका ही उच्चारण ठीक करानेमें लग जाते हैं। यह विधि मनोविज्ञानके विरुद्ध है। शब्दका प्रत्येक वर्ण एक दूसरेसे संबद्ध होता है अतः उच्चारण शुद्ध कराते समय पूरा शब्द लेना चाहिए एक अक्षर नहीं। मान लीजिए एक

विद्यार्थी 'शंकर' के स्थानपर 'संकर' कहता है। यहाँ 'शं' की ही नहीं वरन् पूरे 'शंकर' शब्दकी आवृत्ति करानी चाहिए, साथ ही 'शंकर' और 'संकर' के अर्थोंका भेद बता देना चाहिए जिससे शब्दका ऐसा संबद्ध स्वरूप बालकके मस्तिष्कमें बैठ जाय कि वह फिर कभी अशुद्ध न बोल सके।

संस्कृत विद्यालयमें पढ़नेके लिए आए हुए बालकोंका ज्ञान शिशुओंकी अपेक्षा कुछ अधिक होता है। वे अक्षरोंके परिचयके साथ-साथ अनेक वस्तुओंके नामों, क्रिया-बोधक शब्दों तथा विशेषणोंसे भी कुछ कुछ परिचित रहते हैं। ऐसे बालकोंके सीखे हुए शब्दोंके उच्चारण-शोधनके लिये छः विधियाँ काममें लाई जाती हैं—

१—वस्तुको सामने रखकर उसका शुद्ध नाम बतलाना। जैसे—छतरीको सामने रखकर 'क्षत्र' कहनेवालेको शुद्ध करके 'छत्र' कहलाना।

२—क्रिया करके या दिखलाकर उसका शुद्ध रूप कह-लाना, जैसे—'बाधति' को शुद्ध करके 'बाधते' कहलाना।

३ विशेषणोंका प्रयोग करके तथा शुद्ध करके जैसे—"सोभित' को 'शोभित' कहलाना।

४—विद्यार्थीसे तो कुछ न कहना वरन् उसके सामने इस प्रकार बातचीत और कामकाज करना कि वह स्वयं ही प्रकारान्तरसे शब्दोंके शुद्ध उच्चारणका परिचय प्राप्त करने लगे। उदाहरणके लिये विद्यार्थीको सामने बैठाकर दूसरे किसीसे खिले हुए फूलोंकी ओर संकेत करके कहा जाय कि 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि पिबति मधुकरः।' इस पद्धतिमें सामाजिक वातावरण, पास-पड़ोसका शिष्टाचार, घरके अन्य प्राणियोंकी बोलचालका पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। इसमें

मौखिक शिक्षाकी अपेक्षा शिक्षकके निजी व्यवहारका अधिक महत्त्व होता है। संस्कृतके अध्यापकको यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि छात्रोंकी भाषाको सुधारनेका उत्तरदायित्व उसीपर है। अतः उसे सब आदेश और निर्देश संस्कृतमें देने चाहिए जैसे—गच्छ, उत्तिष्ठ, जलमानय आदि।

५—विद्यार्थियोंके लिये भौगोलिक और ऐतिहासिक यात्राओंकी व्यवस्था करना। वर्त्तमान शिक्षाशास्त्री बहुपठ-की अपेक्षा बहुश्रुत तथा बहुदर्शी बनानेपर अधिक बल देते हैं। भाषाकी शुद्ध शिक्षाके लिये नई-नई परिस्थितियाँ प्रस्तुत करनी चाहिएँ। इससे लाभ यह होता है कि नये शब्द आरंभ-में ही विद्यार्थी ग्रहण कर लेते हैं। हमारे यहाँ दो प्रकारके शिक्षित कहे गए हैं, एक बहुश्रुत दूसरे बहुपठ। बहुपठकी अपेक्षा बहुश्रुतका महत्त्व अधिक है क्योंकि बहुश्रुत जितना व्यवहार-कुशल और क्रियावान् होता है उतना ही बहुपठ व्यवहार-शून्य और अक्रिय होता है। इस तथ्यपर किसी जानकारका कथन है कि "शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः यस्तु क्रियावान् पुरुषस्स विद्वान्" अर्थात् शास्त्रोंका गहरा अध्ययन करनेपर भी लोग मूर्ख ही रह जाते हैं; वास्तविक विद्वान् वही है जो क्रियावान् हो। बहुश्रुत व्यक्ति-के लिये बहुसंग होना आवश्यक है। पुस्तक-ज्ञानकी अपेक्षा बाहरी जानकारी अधिक रखनेवाले व्यक्ति प्रायः बहुपठोंसे कहीं अधिक सफल होते हैं। इसका कारण यह है कि बहुपठ लोगोंकी शिक्षा जिस पुरानी दण्ड-पद्धतिसे हुई उसमें शिक्षक-का डण्डा अधिक काम करता था। प्रत्येक बात पीट-पीट कर रटाई जाती थी और लोग ठोक-पीटकर वैद्यराज बनाए जाते थे। भारतीय शिक्षण-संस्थाओंमें आजसे दस पाँच

वर्ष पूर्वतक इस पद्धतिका व्यापक प्रचार था। परीक्षा पास करनेके लिये 'बाँसकी क़मची' चमत्कार करती थी। दिन-दिन बढ़नेवाले शिक्षा-प्रचारके कारण यह भारतीय परिपाटी बहुत कुछ उठ गई है और उठती ही जा रही है। संस्कृतके पंडितोंको चाहिए कि युगधर्मके अनुसार आगे बढ़ें और इस परिपाटी में परिवर्त्तन करें।

६—आवृत्ति और पुनरावृत्ति तथा संशोधन द्वारा पूरे वाक्यका शुद्ध उच्चारण करना सिखाना। उदाहरणके लिये बालकके मुखसे यह निकलते ही कि 'काश्यां उपवसामि' तुरत उसे टोक देना चाहिए कि तुम अशुद्ध कह रहे हो, इसे यों कहो—'काशीं उपवसामि अथवा काश्यां वसामि'। इस प्रकार बार-बार वाक्यमें ही संशोधन और उसकी पुन-रावृत्ति करानेसे भी बालक शुद्ध बोलना सीख लेते हैं।

अँगरेजीमें भी यही संशोधन और पुनरावृत्ति वाली प्रणाली प्रचलित है। किन्तु इस प्रणालीकी उपयोगिता भी उन्हींके यहाँ सार्थक है जहाँ एक ही ढंगसे लिखे जानेवाले शब्दोंका उच्चारण दो प्रकारसे होता है या दो ढंगोंसे लिखे जानेवाले शब्द एक ही प्रकारसे बोले जाते हैं। हमारे यहाँ तो ऋषि, कृषि, ऋण, ज्ञान आदि दस-पाँच ही शब्द ऐसे हैं जिनके उच्चारणकी पुनरावृत्ति करानेकी आवश्यकता पड़ती है। ऋ, ष, क्ष और ज्ञ अक्षर जिन शब्दोंमें आते हों उन्हें स्वयं बार-बार शुद्ध बोलने और बुलवानेसे तथा संयुक्ता-क्षरवाले शब्दोंके उच्चारण सिखानेमें तनिकसी सावधानी करनेसे ही हमारी उच्चारण-समस्या हल की जा सकती है।

---

४

# बोलचालकी शिक्षा

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसे समाजमें अपनी स्थिति बनाए रखनेके लिये चार आदमियोंसे व्यवहार रखना ही पड़ता है। इस व्यवहार-क्षेत्रमें उतर कर उसे चार मित्र दस शत्रु बनाने ही पड़ते हैं, जीविकाके लिये धनोपार्जन करना पड़ता है। यह सारा प्रपंच रचनेमें उसे एक मात्र अपनी वाणीपर भरोसा करना पड़ता है। उसकी वाणी अर्थात् भाषा ही इन अवसरोंपर उसके काम आती है। भाषाका उपयुक्त प्रयोग पुश्तैनी शत्रुओंको मित्र बना देता है, उसीका कटु रूप गाढ़े मित्रोंको कट्टर शत्रु बना देता है। अवसरोपयुक्त भाषाके प्रयोगमें अभ्यस्त दूकानदार एक वस्तु मोल लेनेके लिये आए हुए ग्राहकके हाथ चार वस्तुएँ बेंच देता है। इसके विपरीत खरी सुनानेवाले दूकानदार दिन भर मक्खियाँ मारा करते हैं। भाषापर अधिकार रखनेवाले मनुष्य हृदयपर अधिकार रखते हैं। वे क्षुब्ध जन-समूहको अपनी वाणीके बलपर भेड़ भी बना सकते हैं और अपने ओजस्वी भाषणसे विद्रोही भी बना सकते हैं, साम्राज्यका तख्ता उलट सकते हैं। इँगलैण्डके प्रधान मन्त्री ग्लैड्स्टनकी वाणीमें वह शक्ति थी जो कभी-कभी महारानी विक्टोरियाको भी भयभीत कर देती थी। कहा जाता है कि एक बार पार्लियामेण्टमें किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्नपर विचार हो रहा था। स्वयं प्रधान मन्त्री उसके प्रस्तावक थे। उन्होंने अपना प्रस्ताव इतने प्रभावशाली शब्दोंमें उपस्थित किया कि लोकमत उनकी ओर झुकने लगा। महारानी विक्टोरिया

उस प्रस्तावके विरुद्ध थीं। परन्तु उनमें विरोध करनेका साहस नहीं था। वह अनुभव कर रही थीं कि ग्लैड्स्टनकी ओजमयी वाणीका विरोध करना उनकी शक्तिके बाहर है। अतः उन्हें बाध्य होकर यह कहना पड़ा कि प्रधान मन्त्री अपना प्रस्ताव लिखकर दें, बोलकर नहीं।

उक्त उदाहरणसे लिखने और बोलनेका अन्तर स्पष्ट हो जाता है। लेखन मूक भाषण है और भाषण मौखिक लेखन। लिखे हुए शब्द चित्रके समान होते हैं जिनमें रूप और रङ्ग होता है, शरीर होता है, पर प्राण नहीं। परन्तु बोले हुए शब्द हमारे व्यक्तित्वसे अनुरञ्जित, हमारी भावनाओंसे अनुप्राणित, हमारी आँखोंकी चमकसे ज्योतिर्मय और हमारे हाथकी लहरोंसे गतिशील होते हैं। सवाक् विचारोंको भाषण कहते हैं और भाषण करनेका साधन भाषा है। भाषा अर्थात् बोलचालमें दो बातोंका होना बहुत आवश्यक है। इसमें पहली बात है अर्थनिर्देश और अर्थनिर्देशके समान ही महत्त्वपूर्ण दूसरी बात है प्रभावोत्पादकता। जब हम किसीसे कुछ कहते हैं तो हमारा उद्देश्य यही रहता है कि श्रोता हमारी बातको समझे और उसपर हमारी बातका प्रभाव पड़े। ऐसी स्थितिमें भाषाका अर्थनिर्देशक और प्रभावोत्पादक होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य्य भी है। अर्थ-निर्देशकता और प्रभावोत्पादकता लानेके लिये भाषा शुद्ध हो, अवसरके अनुकूल हो, स्वरके साथ कही जाय, उसका एक-एक शब्द स्पष्ट कहा जाय, और वह मधुर हो।

भाषाकी शुद्धतासे तात्पर्य्य यह है कि शब्द समुचित रीतिसे लोक-व्यवहार-सिद्ध, सूक्तियुक्त तथा व्याकरणसिद्ध हो। किसीके आनेपर हम कहते हैं—

'इत आस्यताम्, निविशतामासनमुज्झितम् किम् ।' यदि उसके स्थानपर हम कहें—'आगच्छ, वृषीं गृहाण' तो अनुचित ही कहा जायगा। व्याकरणकी अशुद्धि तो हम लोग पद-पदपर करते हैं, जैसे पञ्चम्यां, सप्तम्यांके समान ही संस्कृतके छात्र षष्ठम्यां कहने लगते हैं। बोलनेके समय देश-काल-पात्रका भी विचार होना चाहिए अर्थात् अवसर देखकर मुँह खोलना चाहिए। शोक प्रकट करते समय चिल्ला-चिल्लाकर बोलना उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे किसीपर अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसके कानमें धीरेसे कहना कि 'करोमि कीनाशनिकेतनातिथिम्'। बोलते समय सस्वरता और भावानुसार वाणीके उतार-चढ़ाव पर भी ध्यान रखना चाहिए। इसके अभावमें भाषण नीरस और प्राणहीन हो जाता है तथा श्रोतापर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

यही देखकर पुरानी दुनियाके श्रेष्ठ मनीषी प्लुतार्कने कहा था कि तुम बात वही कहते हो जो तुम्हें कहनी चाहिए पर उस ढंगसे नहीं कहते जिस ढंगसे कहनी चाहिए। आज भी प्लुतार्कका उक्त कथन तथ्य-हीन नहीं हुआ है। हम किसी प्रकार बोल भर लेते हैं, बोलनेका ढंग तो हम आज भी नहीं जानते। जैसा कि हम कह चुके हैं, बोलनेमें दो वस्तुओंकी आवश्यकता पड़ती है—एक अच्छी बात, दूसरे अच्छा ढंग। अच्छे ढंगसे बोलनेका तात्पर्य्य है स्वा-भाविक ढंगसे बोलना। स्वाभाविक ढंगसे बोलनेका अभ्यास डालनेके लिये यह आवश्यक है कि बात हृदयसे निकले। लन्दनके पादरी प्रोटियसने जब यह पूछा कि तुम इतना अच्छा अभिनय कैसे करते हो तब प्रसिद्ध अभिनेता विटा-र्टनने कहा—इसलिये कि हम इसे हृदयसे करते हैं।

लोगोंका कहना है कि पूज्य मालवीयजीके मुँहसे एक-एक शब्द फूलके समान झड़ता था। इसका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक अक्षर शुद्ध और प्रत्येक शब्द उचित ध्वनिके साथ निकलता था और श्रोताके हृदयपर टाइपकी मशीनके अक्षरके समान छपता चला जाता था। हमें स्पष्ट भाषा-भाषीके विचारोंका ही केवल आनन्द नहीं मिलता, उसकी वाणीका भी हमपर एक विचित्र अवर्णनीय प्रभाव पड़ता है। हृदय खिल उठता है, कान उसकी वाणी सुननेके लिये लालायित हो उठते हैं। ऐसी ही वाणीवालेके लिये लोग कहते हैं—'वचस्तस्य सुधास्रवाः'। यही वाणीका फूल बरसाना है। यही वाणीसे मोती झड़ना है।

इस सम्बन्धमें अन्तिम बात है मधुरता। यही वशीकरण मन्त्र है।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्॥
केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः।
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमैरालंकृता मूर्द्धजाः॥
वाण्येका विमलं करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते।
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्॥

अतः भाषणमें पटुता प्राप्त करानेके लिये शिक्षा-शास्त्रियोंने निम्नलिखित उपायोंका निर्देश किया है—

१. शिष्टजन-संसर्ग।

२. कक्षामें विभिन्न अवसरोंके योग्य बोलचालके पाठोंवाली पुस्तकोंकी सहायतासे अभ्यास कराना।

३. मौखिक रचना-द्वारा।

४. नाटक-द्वारा।

५. परस्पर शास्त्रार्थ तथा व्याख्यानके अभ्यास-द्वारा।

इनमेंसे प्रथम तो सहज और स्वाभाविक है। भले घरों-के बच्चे स्वभावतः मिष्टभाषी और शिष्ट होते हैं।

सच पूछिए तो शिष्ट और व्यवहार-भाषा राजसभामें जानेवालों तथा भलेमानसोंके यहाँ बैठक लगानेवालोंको अत्यन्त शीघ्र आ जाती है, किन्तु, बेचारा अध्यापक ऐसी परिस्थिति तबतक उत्पन्न नहीं कर सकता जबतक गुरुकुल-शिक्षा प्रणाली हमारे देशमें अनिवार्य्य न हो जाय, संस्कृत-शिक्षाका माध्यम संस्कृत न हो जाय।

विभिन्न अवसरोंके योग्य भाषाका अभ्यास कक्षामें करानेके लिये अत्यन्त चतुर अध्यापककी आवश्यकता है क्योंकि अभीतक हमारे शिक्षा-साहित्यमें ऐसी व्यवहार-शिक्षक पोथियोंका सर्वथा अभाव है। यदि विचक्षण भाषा-पटु विद्वानोंकी लिखी हुई—कोरे साहित्यिक लेखकों या संग्रह-कर्त्ताओंकी लिखी नहीं— पुस्तकें प्राप्त हों तो कक्षामें भी संवाद-द्वारा शुद्ध भाषाकी शिक्षा दी जा सकती है।

मौखिक रचना तो लिखित रचनाका प्रारम्भिक स्वरूप मात्र है। वह भाषण-पटुता प्राप्त करानेमें कितनी सहायता दे सकेगा यह संदिग्ध है। इसका विवेचन रचना-शिक्षणके साथ किया जायगा।

भाषण-शिक्षणके लिये नाटक बड़ा महत्त्वपूर्ण साधन है। इतिहास इस बातका साक्षी है कि बहुधा बड़े-बड़े वक्ता अपने जीवनके प्रभात कालमें रङ्गशालाके नट अवश्य रहे हैं। रङ्गशाला ही वह उपयुक्त स्थल है जहाँ कोई भी व्यक्ति अवसरोपयुक्त भाषाके साथ-साथ उसे कहनेका—भावको उचित रूपसे प्रकट करनेका—ढंग भी सीख जाता है।

वहाँ उसकी वाणी सध जाती है, गला मँज जाता है, फेफड़े अपनी शक्तिका उपयोग करना जान जाते हैं और ध्वनि उत्पन्न करनेवाले सब यन्त्र अपनी मर्य्यादा समझ लेते हैं। अतः पाठशालामें भाषण तथा बोल-चालकी उचित शिक्षा देनेके लिये रङ्गशालाकी शरण लेनी चाहिए। इसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि रङ्गशालाकी सारी सामग्रियाँ प्रस्तुत हों। एक सीधे-सादे मञ्चपर नटोंके समान प्रवेश और प्रस्थानके साथ सुन्दर भावपूर्ण संवाद कराकर भी इस उद्देश्यकी सिद्धि की जा सकती है। इससे कण्ठ खुलता है, हियाव खुलता है, ठिठक भाग खड़ी होती है। वाग्युद्धमें अभिनेताको कोई परास्त नहीं कर सकता। वह सैकड़ों, सहस्रों, लाखोंके सामने तनकर खड़ा हो जायगा और उसकी वाणीके उतार-चढ़ावके साथ-साथ जनसमूह कभी हँसीसे लोटपोट होगा, कभी आँसुओंसे जलधारा बरसावेगा। बोलचाल सिखानेका यही उद्देश्य है, यही इच्छित फल भी है।

शास्त्रार्थकी महत्ता प्रत्येक संस्कृतज्ञ भली भाँति जानता है। शास्त्रार्थसे तर्क-शक्ति बढ़ती है, भाषा-संस्कार बढ़ता है, पांडित्य की वृद्धि होती है और व्युत्पत्ति-विकास भी होता चलता है। नियमित रूपसे प्रति सप्ताह विद्यालयमें शास्त्रार्थका आयोजन करते रहना चाहिए और आचार्योंको स्वयं मध्यस्थ होकर यह निर्देश भी देते रहना चाहिए कि पूर्व पक्षकी स्थापना किस प्रकार करनी चाहिए, उत्तर पक्ष-का निर्वाह किस प्रकार करना चाहिए और यह भी सिखाना चाहिए कि शास्त्रार्थमें किसी प्रकारका मनोविकार नहीं आना चाहिए। शुद्ध सात्त्विक भावसे केवल ज्ञानार्जनकी दृष्टिसे ही शास्त्रार्थ करना चाहिए, जय-पराजयकी वृत्तिसे नहीं।

---

५

# लिपिकी समस्या

मनुष्यके पास भाव प्रकट करनेके तीन साधन हैं। वह बोलकर, लिखकर या इङ्गितसे अपने हृदयका भाव प्रकट कर सकता है। उक्त तीनों साधन मनुष्यके बुद्धि-विकासका क्रम सूचित करते हैं। प्रागैतिहासिक कालमें जब मानवता वनवृक्षोंके हिंडोलेपर झूलती थी, पशुओंका कच्चा मांस ही मनुष्यके लिये षड्रस व्यञ्जन था उस समय मनुष्यकी मूक भाषामें शरीरके विभिन्न अंग ही वर्णमालाका काम करते थे। उस समय हम संकेतों और कुछ अस्पष्ट ध्वनियोंसे ही अपना सारा काम चलाया करते थे। धीरे-धीरे हम तुतला-तुतलाकर बोलने लगे। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि आज भी बोलने और लिखनेके साथ-साथ संकेतसे काम चलानेकी कला हमें उन्हीं पूर्वजोंसे उत्तराधिकारमें मिली है, बड़े होनेपर हमारी तुतलाहट भी छूटी और हम स्पष्ट शब्दोच्चार भी करने लगे।

उक्त अवस्था बहुत दिनों तक बनी रही। फिर समझ-दार होनेपर हम मनुष्योंने लिखनेका प्रयत्न करना आरम्भ किया अर्थात् ध्वनिकी प्रतीक रेखाओंका आविष्कार किया। इतने बड़े आविष्कारके अनुरूप उपकरणोंका हमारे पास सर्वथा अभाव था। अक्षरोंमें गोलाई, सुडौलपन आदि लानेका कोई साधन न था। हम किसी प्रकार उल्टी-सीधी रेखाएँ खींचकर वर्णमालाके अभावकी पूर्त्ति करने लगे। धीरे-धीरे आवश्यक उपकरण प्रस्तुत हुए और फलस्वरूप उन्हीं उल्टी-सीधी रेखाओंने आज हमारी वर्णमालाके सुन्दर सुडौल अक्षरोंका रूप धारण किया है। आज लिखने-पढ़ने-का व्यापक प्रचार हो गया है इसलिये चाहे हम लिखावट-को कोई महत्त्व न दें पर इससे इसके आविष्कारकी महत्ता

तिलभर भी कम न होगी। आज भी मनुष्यकी असभ्य और आदिम अवस्थाके प्रतिनिधि जंगलियोंके लिये लिखावट किसी जादूसे कम नहीं है। उनके लिये आज भी यह एक पहेली ही है कि कहींपर कोई मनुष्य टेढ़ी-सीधी रेखाओं द्वारा अपने मनकी बात कैसे बता देता है और दूसरा मनुष्य उन्हीं रेखाओं द्वारा उसकी सारी बातें कैसे समझ लेता है। इतना ही नहीं चिट्ठी पढ़कर भी क्रोध, प्रेम, करुणा आदि भाव वैसे ही उमड़ पड़ते हैं जैसे देख या सुनकर, इसलिये लिखनेका महत्त्व कम नहीं समझना चाहिए।

मुद्रणयन्त्रोंके आविष्कारने लेखन-कलाकी हत्या कर डाली। प्रदर्शनियोंमें आए हुए पुराने लेखोंके सराहनीय संग्रहोंके देखनेसे उस समयकी विचित्र लेखन-कुशलता हमारी आखें खोल देती है। विभिन्न आकारके छापेके अक्षरोंमें भी वह सौन्दर्य, वह एक-आकारता और वह एक-स्वरूपता देखनेको नहीं मिलती जो उन कलाविद् लेखकोंकी लिखावटमें मिलती है। एक चावलके ऊपर सूईसे खुदे हुए एक पूरे श्लोकमें एक भी अक्षर अशुद्ध या विकृत नहीं मिलता। पोस्टकार्ड जितने बड़े कागजपर पूरी श्रीमद्भगवद्गीता लिखी हुई मिलती है जिसका एक भी अक्षर न तो बिगड़ा और न अशुद्ध लिखा गया, न कोई अक्षर पंक्तिच्युत ही हुआ न रेखाच्युत। अब भी हस्तलिखित ग्रन्थोंके लेखक ऐसा लिखते हैं कि एक-एक अक्षर मोतीके समान तारमें पिरोया हुआ सा जान पड़ता है। उस कलाके दर्शन मात्रसे वाणी स्तंभित हो जाती है। उस लेखन-कलाकी पवित्र, आलोकमयी, सौन्दर्यमयी चित्रशालामें मुद्रण-यन्त्रके प्रवेश होते ही लेखन-कलाको साँप सूँघ गया—काठ

मार गया। धड़ाधड़ साहित्यका अम्बार तो लग गया पर वैसा ही—गुदड़ी बाजारकी शोभा बढ़ानेवाला। न जाने कितने सुलेखक अपनी कोमल कलामय उँगलियोंको लिए-दिए भूखे पेटकी ज्वाला लेकर विज्ञानको कोसते हुए इस संसारको नमस्कार करके चल बसे।

मुद्रणयन्त्रने हमारी कला-विकासिका बुद्धिको निश्चेष्ट कर दिया। हमने लेखन-कलाके ललित विलासका चिन्तन भी छोड़ दिया। इस व्यापक उदासीनताका परिणाम बड़ा घातक सिद्ध हुआ। अनभ्यस्त, बहुधन्धी, असावधान तथा आलसी हाथोंमें पड़कर हमारी लिपि बिगड़ती चली गई। हमारी लिपिका वह अलौकिक गौरव लुप्त होने लगा कि वह शुद्ध लिखी और पढ़ी जा सके।

लिपिका प्रश्न उठते ही समुचित लिपिके चुनावकी समस्या भी सामने खड़ी हो जाती है। राष्ट्रभाषाके समान राष्ट्र-लिपिका प्रश्न भी उपस्थित हो रहा है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जायगा कि देवनागरी ही संसारकी सर्वोत्कृष्ट वैज्ञानिक लिपि है। यह पूर्णतातक पहुँच चुकी है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि नागरी अक्षरोंके नाम और उच्चारण दोनों एक ही होते हैं। संसारमें प्रचलित अन्य लिपियोंमें यह बात नहीं पाई जाती। उनमें अक्षरकी संज्ञा कुछ, और उच्चारण कुछ हुआ करता है। अतः देवनागरी ही सर्वश्रेष्ठ लिपि है और भारत भरके संस्कृत पढ़ने लिखनेवाले इसीका प्रयोग करते हैं यही इसकी श्रेष्ठताका प्रमाण है।

६

## अक्षर-रचना

लिपिः प्रशस्ता सुमनो लतेव केषां न चेतांसि मुदा बिभर्त्ति

"सुन्दर लिपि फूलोंवाली लताके समान किसको मोहित नहीं करती"।

शुद्ध लिखावटके लिये चार आवश्यकताएँ निर्धारित की गई हैं।

( १ ) बैठनेका ठीक ढंग।

( २ ) कलम पकड़नेका ठीक ढंग।

( ३ ) अक्षरोंका ललित विन्यास।

( ४ ) अक्षरोंका सुडौलपन।

१. बैठनेका ठीक ढंग–विद्यार्थीको इस प्रकार कमर सीधी करके बैठना चाहिए कि रीढ़की हड्डी बिलकुल सीधी रहे, झुके नहीं। पुरानी प्रथाके अनुसार बायाँ घुटना टेककर दाएँ घुटनेपर पट्टी या कापी रखकर लिखनेकी प्रणाली अबतक प्रचलित है। इस मुद्रामें रीढ़की हड्डीको झुकनेका अवसर ही नहीं मिलता और विद्यार्थीकी आँखें भी पट्टी या कापीसे कमसे कम एक फुट दूरीपर रहती हैं। यदि आगे ढलवाँ चौकी रखकर भी बैठना हो तो यह ध्यान रहे कि रीढ़ सीधी हो और आँखें कापीसे एक फुट दूरीपर हों।

२. कलम पकड़नेका ढंग—नरकट आदिकी लेखनीको उसकी जीभसे ऊपर अँगूठे और मध्यमासे ऐसे पकड़ो कि तर्जनी उसके ऊपर हो, साथ ही ४५° पर कटी हुई लेखनी-की जीभ इस प्रकार पट्टी या कागजपर बैठाकर चलाई जाय कि अक्षर विरूप न होकर ऐसे लिखे जायँ—

अ क ग ड ल स

३. अक्षरोंके ललित विन्याससे तात्पर्य यह है कि शब्दों-का रूप आँखोंको अच्छा लगे, उनके दर्शन मात्रसे उन्हें पढ़नेको जी ललच उठे। परीक्षामें प्रायः सुन्दर अक्षर परी-क्षकको मंत्रमुग्ध करके उसके हाथसे अंक लूट ले जाते हैं। अतः प्रत्येक अक्षरकी बनावट शुद्ध और सुन्दर हो। 'उ' का निम्नलिखित रूप कलमकी लाग ठीक होनेपर भी लालित्यकी दृष्टिसे विरूप ही होगा—

T

किन्तु 'उ' को ही यदि कलमकी लागके बिना केवल एक सी मोटाई या पतलेपनके साथ सुन्दर ढंगसे लिखें तो वह ऊपर लिखे हुए बेढंगे 'उ' की अपेक्षा कहीं अधिक नेत्र-रञ्जक होगा।

४. अक्षरोंके सुडौल होनेका तात्पर्य यह है कि अक्षरका प्रत्येक अंग सानुपात हो, छोटा-बड़ा न हो। 'अ' का शुद्ध सुडौल रूप यह है—

# अ

यदि हम इसीके विभिन्न अंगोंके अनुपातका ध्यान न रखकर यों लिखें—

तो कितना बेढंगा जान पड़ेगा।

अक्षरोंके आकार तथा उनकी लेखन-गतिके सम्बन्धमें विशेषज्ञोंका कथन है कि अक्षर बड़े-बड़े और सुस्पष्ट होने चाहिएँ, उनमें आकार-साम्य हो अर्थात् कोई अक्षर बड़ा और कोई छोटा न हो और मुख्य बात यह है कि अक्षर सीधे खड़े लिखे जायँ, टेढ़े-मेढ़े न होने पावें। जैसे—

| क | क |
|---|---|
| सीधा रूप | टेढ़ा रूप |

और इन सबके साथ-साथ अक्षर शीघ्र लिखे जयँ। ऐसा न हो कि एक-एक अक्षर गढ़नेमें दस-दस मिनट लगें।

उक्त ढंगसे लिखनेमें कुशलता पानेके लिये तीन उपाय बताए गए हैं जिन्हें अनुलिपि और अनुलेखन कहते हैं। अनुलिपिके लिये ऐसी लिपि-पुस्तकें होनी चाहिए, जिनमें सुन्दर, सुडौल और बड़े-बड़े अक्षर छपे रहें और नीचे इतना स्थान छोड़ दिया जाय कि विद्यार्थी उसको देख-देखकर

सुन्दर लिपिका अभ्यास कर सकें। इस प्रकार अनुलिपिका अभ्यास करनेसे अक्षरोंमें सुडौलपन तथा एकरूपता आती है। जैसे—

---

भारतवर्षः सर्वश्रेष्ठः देशोऽस्ति

---

पुस्तिकापर किसी पुस्तक या समाचार-पत्र आदिके लिखित अंशको लिपि-बद्ध करना प्रतिलिपि कहलाता है। प्रतिलिपिके अभ्याससे भाषामें शुद्धता आती है तथा शब्द-भाण्डार बढ़ता है।

तीसरा अभ्यास अनुलेखन या श्रुतलेखका है। अनुलेखनमें एक व्यक्ति बोलता जाता है, अभ्यासार्थी उसे लिखता जाता है। इस अभ्यास-द्वारा लिखनेमें क्षिप्रता आती है, विद्यार्थीको शीघ्रतापूर्वक सुनकर लिखनेका अभ्यास होता है।

ये ही बातें लिखावटके लालित्यके लिये भी आवश्यक हैं। लिपिको ललित बनानेके लिये तीन बातें और भी ध्यानमें रखनी चाहिएँ।

१. कागजके चारों ओर नीचे-ऊपर दाएँ-बाएँ स्थान छूटा हो।

२. दो शब्दोंके बीचमें कमसे कम दो 'म' का स्थान छूटा हो।

३. दो पंक्तियोंके बीचमें एक पंक्तिकी मोटाईका अन्तर छूटा हो।

मान लीजिए निम्नलिखित कोष्ठक जितना बड़ा एक कागज है। उसमें इस प्रकार लिखना चाहिए—

| देश-द्रोहः गुरुतरा-पराधः दुरितश्चास्ति ।<br>देश-शत्रोः कदापि कल्याणं न भवति । |
|---|

यहींपर लिखावटके व्यावहारिक पहलूपर भी विचार कर लेना चाहिए। हम यह कह चुके हैं कि नागरी अक्षरोंके ध्वन्यनुकूल होनेके कारण वर्णमालाका ज्ञान प्राप्त करते ही बालक बोली हुई सभी बातें लिख सकता है। परन्तु हमारी वर्णमालामें ऋ, ष, और ज्ञ ये तीन अक्षर ऐसे हैं जिनके उच्चारणमें व्यापक अशुद्धि दिखाई देती है। इन अशुद्धियों-का परिष्कार उन विशेष शब्दोंके बार-बार लिखवानेसे भी हो सकता है जिनमें वे अक्षर आते हों जैसे—ऋषि, ज्ञान, ऋग्वेद आदि। यहींपर विद्यार्थीको इसपर भी ध्यान देनेकी शिक्षा देनी चाहिए कि वे 'ज्ञ, ऋ, ष' अक्षरोंको अध्यापककी प्रत्यक्ष सुनी हुई ध्वनिके अनुसार न लिखकर उनके मूल स्वरूपके अनुसार लिखें क्योंकि इन ध्वनियोंमें विपर्य्यय होनेकी सम्भावना रहती ही है। जिन अक्षरोंके

उच्चारणमें भूल होनेकी सम्भावना हो उन्हें बार-बार सामने लानेसे विद्यार्थी सँभल जाता है और शुद्ध लिखने और उच्चारण करने लगता है।

इस प्रकार शुद्ध लिखना आ जानेपर अनुच्छेद रचने, पट्टी छोड़ने और विरामोंके उचित प्रयोग आदिकी शिक्षा दी जानी चाहिए। इसकी चर्चा हम रचना-शिक्षणमें आगे चलकर करेंगे।

---

# ७

# वाचनकी शिक्षा

शिक्षा-शास्त्रियोंमें अभीतक इस विषयमें गहरा मतभेद है कि पहले लिखना सिखाना चाहिए या बाँचना। लिखना सीखनेवालेको तो बाँचना आ ही जाता है किन्तु बाँचना सीखनेवालेको लिखना भी आ जाय यह आवश्यक नहीं है। हममें बहुतसे ऐसे लोग हैं जो बँगला, गुजराती आदि अन्य लिपियोंमें लिखी या छपी हुई पोथियाँ बाँच तो लेते हैं किन्तु एक पंक्ति भी लिख नहीं सकते। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है। जब हम पढ़ने लगते हैं तो पहचाने हुए अक्षरोंके अस्फुट स्वरूप भी प्रत्यक्ष होनेपर उनकी स्मृति दिला देते हैं। और कभी-कभी तो कुछ पहचाने हुए अक्षरोंके सहारे ही हमें अपरिचित अक्षरोंका बोध हो जाता है। किन्तु लिखनेमें हमें कल्पना तथा अनुमानसे कोई आश्रय नहीं मिलता। जबतक अक्षरकी बनावट, उसके प्रत्येक अंगके डील-डौल, उतार-चढ़ाव, मोटाई-गहराई आदिका ज्ञान न हो तबतक लिखनेवालोंके लिये उस अक्षरका कोई अस्तित्व नहीं। उसके लिये 'घन' और 'धन' दोनोंका भेद समझना आवश्यक है। इसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तके बलपर ही हमने लिखना सिखानेकी विविध विधियोंपर विचार किया है।

अपनी लिपिकी विशेषताओंका उल्लेख करते हुए हम कह आए हैं कि हमारी लिपिके एक अक्षरका जो नाम है वही उसकी ध्वनि है। संभवतः इसी कारण हमारी भाषाके अध्यापकगण पढ़ना सिखानेकी अलग व्यवस्था करनेकी

आवश्यकता नहीं समझते। उनके विचारसे अक्षर-बोध होते ही पढ़ना आ जाता है। कोई ह्रस्व-दीर्घकी अशुद्धि करता हो या संयुक्ताक्षरोंको तोड़कर उच्चरित करता हो या पढ़ते समय कोई अक्षर या शब्द छोड़ जाता हो तो उसको ठीक करके ही अध्यापक अपने कर्त्तव्य और धर्मकी इतिश्री समझ लेते हैं। किन्तु यह बात नहीं है। प्रत्येक लेखक जो कुछ लिखता है वह किसी उद्देश्यसे, किसी विशेष प्रभावको उत्पन्न करनेके लिये लिखता है। अत्यन्त ओजमयी भाषामें लिखा हुआ लेख भी अधम पाठकके मुँहसे नीरस, भावशून्य और निस्सार ही प्रतीत होगा। एक छोटा सा उदाहरण लीजिए। एक वाक्य है—'न हि शृणोषि'। इसीको एक अध्यापक अपने शिष्योंसे एक ढङ्गसे कहेगा, स्त्री अपने मानी पतिसे दूसरे ढङ्गसे कहेगी। यदि पढ़नेवालेने पहलेको दूसरे ढङ्गसे और दूसरेको पहले ढंगसे पढ़ा तो समझिए कि उसने लेखक-के भावोंका जीवित श्राद्ध कर दिया, उसे समाप्त कर दिया। अतः पढ़नेकी शिक्षा देनेमें सर्वप्रथम कंठको साधने-की अर्थात् भावके अनुसार स्वरके उचित उतार-चढ़ावकी शिक्षा देनी चाहिए।

बाँचना सिखानेपर इतना श्रम क्यों किया जाय यह प्रश्न हमारे मित्र पूछ सकते हैं। इसका उत्तर हमारे उन्नत समाज-की आवश्यकताएँ ही दे सकती हैं। हमें अभिनंदन-पत्र पढ़ने पढ़ते हैं, समाचारपत्र पढ़कर सुनाने पड़ते हैं, सभा-समितियोंके विवरण बाँचकर सुनाने पड़ते हैं, इसलिये ठीक ढङ्गसे बाँचनेकी शिक्षा देना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य्य भी है। कितने ऐसे लोग हैं जिनके पढ़नेके ढङ्गको देखकर हम लोग मुसकराए होंगे, ठठाकर हँसे होंगे

और कभी-कभी हँसीके आवेशमें तालियाँ भी पीट दी होंगी। इनमें समाजके बड़ेसे बड़े और छोटेसे छोटे सभी लोग सम्मिलित हैं। इसमें उनका दोष नहीं है, उनकी शिक्षाका दोष है और हमारी हँसी और तालियाँ उनपर नहीं, उनके शिक्षकोंपर है।

पीछे तीसरे अध्यायमें हम वाचनके गुण-दोषोंका विस्तृत विवेचन कर चुके हैं अतः उनकी पुनरावृत्ति करना यहाँ अनावश्यक है। यहाँ केवल उसकी शिक्षण-विधियोंका उल्लेख करना ही पर्य्याप्त होगा। शिक्षा-संसारमें प्रारम्भमें बाँचना सिखानेकी निम्नलिखित विधियाँ प्रचलित हैं।

१. 'देखो और कहो'-विधि ( पश्यन्तु वदन्तु-विधि)
२. अक्षर-बोध-विधि
३. ध्वनिसाम्य-विधि
४. अनुध्वनि-विधि
५. भाषा-शिक्षण-यन्त्र-विधि
६. समवेत पाठ-विधि
७. संगति-विधि

पहली 'देखो और कहो'—विधिमें एक पूरा शब्द श्याम-पट्टपर लिख दिया जाता है। विद्यार्थीको अक्षरकी पहचान करानेके बदले शब्दके स्वरूपकी पहचान कराई जाती है। इस प्रणालीका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके द्वारा निरन्तर प्रयुक्त होने वाले शब्दोंका चित्र तो मस्तिष्कमें ठीक बैठ जाता है किन्तु अव्यवहृत शब्दोंके रूप और प्रयोगमें धोखा हो जाता है।

दूसरी अक्षर-बोध विधि वही है जो प्रायः आजकल पुरानी चालकी चटसालोंमें प्रचलित है, अर्थात् एक-एक अक्षर पढ़कर पूरा शब्द बाँचना। जैसे क, म, ल,—कमल।

तीसरी ध्वनिसाम्य-विधिमें एक समान उच्चरित होनेवाले शब्द एक साथ सिखाए जाते हैं जैसे—क्रम, भ्रम, श्रम आदि। किन्तु यह विधि अस्वाभाविक और असंगत है, अतः यह विधि भी त्याज्य है।

चौथी अनुध्वनि-विधि प्रायः 'देखो और कहो' का ही प्रकारान्तर है। इसमें अध्यापक एक शब्द कहता है और विद्यार्थी उस शब्दकी ध्वनिका अनुकरण करता है। किन्तु इस विधिका विशेष उपयोग उन भाषाओंकी शिक्षाके लिये है जिनमें एक-एक अक्षरकी कई-कई ध्वनियाँ होती हैं या कभी-कभी शब्द लिखनेमें कुछ अक्षरोंका उच्चारण ही नहीं होता या लिखा कुछ जाता है, पढ़ा कुछ जाता है जैसे—अंगरेजीके 'पुट' ( Put ) और 'बट' ( But ) शब्दोंमें आनेवाला 'यू' ( U ) अक्षर क्रमशः 'उ' और 'अ' का बोधक होता है, अथवा अँगरेजीके 'काम' ( Calm = शान्त ) शब्दमें आनेवाले 'एल्' की ( L ) ध्वनि अश्रुत रहती है; अथवा फ़ारसीमें लिखा हुआ 'निज़ामुल्दीन' पढ़ा जाता है 'निज़ामुद्दीन'। ऐसी सभी अनियमित और विकृत भाषाओंमें पग-पगपर अध्यापकको पथप्रदर्शनकी आवश्यकता पड़ती है किन्तु संस्कृतमें यह समस्या उठती ही नहीं। इसे हम 'सुनो और कहो' विधि कह सकते हैं।

पाँचवी भाषण-शिक्षा-यन्त्र-विधि नई वस्तु है। इसमें ग्रामोफ़ोनके तवेमें एक पाठ भरा रहता है, जिसे सुनकर बालक उसीका अनुकरण करके पढ़नेका अभ्यास करते हैं।

इससे लाभ यह होता है कि उच्चारणमें एकरूपता और पढ़नेके क्रममें समता आ जाती है किन्तु अभी संस्कृतकी शिक्षाके लिये लिंग्वाफोनके तवे नहीं बने हैं और बननेपर भी सब पाठशालाओंको प्राप्त हो सकेंगे इसमें सन्देह है।

छठी समवेत पाठ-विधि प्रायः छोटे-छोटे पद्यों अथवा छोटे-छोटे गीत सिखानेमें प्रयुक्त होती है। किन्तु भावपूर्ण गद्यांशों अथवा नाटकके अंशोंकी शिक्षा देनेमें इसका सफल प्रयोग किया जा सकता है। अध्यापक एक अंशको स्वयं भावपूर्ण रीतिसे पढ़ता है और कक्षाके सब विद्यार्थी एक साथ उसकी आवृत्ति करते हैं। ऐसा करनेसे स्वर सधता है और वाचन-संस्कार दृढ़ हो जाता है।

सातवीं संगति-विधिका विधान मदाम मौन्तेसोरीने किया है किन्तु वह खिलवाड़ मात्र है। उसको हम वास्तविक शिक्षा-विधि नहीं कह सकते और न वह हमारे काम ही अधिक आ सकती है। विधि यह है कि बहुत सी वस्तुओं, चित्रों, खिलौनों आदिके आगे उनके नाम कार्डोंपर लिखकर रक्खे जाते हैं। फिर वे कार्ड फेंट दिए जाते हैं और बालकों-से उन्हें उन्हीं वस्तुओंके आगे रखनेको कहा जाता है। धीरे-धीरे बालक उन शब्दोंको पहचान जाते हैं। इस विधिसे केवल कुछ संज्ञाओंका बोध कराया जा सकता है और इससे कुछ संज्ञावाची शब्दोंकी पहचान हो सकती है, किन्तु पढ़ने-में अधिक सहायता नहीं मिल सकती। इस विधिके कई रूप हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं है।

हम पहले ही कह आए हैं कि संस्कृत अक्षर बाँचनेमें अधिक कठिनाई नहीं पड़ती अतः अब हमें यह विचार करना चाहिए कि कलात्मक ढंगसे बाँचनेके लिये कौन-

कौनसी बातें आवश्यक हैं। यद्यपि हम गुणी तथा अधम पाठकके गुण-दोषोंका विवेचन पीछे कर चुके हैं किन्तु यहाँ उसके अतिरिक्त एक बातकी ओर ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं, वह बात है कलापूर्ण तथा यथावसर अंगसंचालन। यह स्मरण रखना चाहिए कि पढ़ते समय भावानुसार स्वरका उतार-चढ़ाव तो हो किन्तु उसके कारण अंग-संचालन बनावटी, अतिरञ्जित और भोंडा न हो। बात-बातपर आँखें मटकाना, नाक सिकोड़ना या गर्दन हिलाना भोंडेपन और असंस्कृतिका द्योतक है। इसी प्रकार अधिक हाथ फेंकना, उँगली मटकाना तथा स्वतः बतीसी चमकाना अथवा ठठाकर हँसना शीलकी सीमासे परे है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात है शब्द-समूहोंका चुनाव अर्थात् एक बार कितने शब्द बोलने चाहिएँ, कहाँ कितना रुकना चाहिए इत्यादि।

पढ़ना सिखानेकी सफलता अध्यापककी योग्यतापर निर्भर है। प्रारम्भिक कक्षामें बहुत सोच-विचार कर अध्यापक नियुक्त करना चाहिए। अध्यापकोंकी सुविधाके लिये हम सुन्दर रीतिसे वाचनके कुछ नियम दे देते हैं—

१. हलकी पुस्तक हो तो बाएँ हाथमें उठाओ और इस प्रकार पकड़े रहो कि वह हाथसे १३५° का कोण बनावे और आखोंसे कमसे कम डेढ़ प्रादेश दूरीपर रहे।

२. पढ़ते समय आँखें निरन्तर पुस्तकमें न गड़ी रहें। एक बार आँखें इतनी सामग्री ग्रहण करलें कि बीच-बीचमें मुँह उठाकर सम्मुख बैठे हुए लोगोंकी ओर देखने और उन्हें सम्बोधित कर पढ़नेका अवकाश मिले।

३. शब्द-समूहोंका उचित चुनाव करके आवश्यक ठहराव देकर पढ़ना चाहिए।

४. पढ़नेकी गति न तो बहुत मन्द हो और न बहुत तीव्र।

५. स्वर भी न तो मन्द हो न बहुत तीव्र। उसमें उतना ही बल हो कि श्रोतागण तक शब्द ठीक-ठीक पहुँच सकें।

६. प्रत्येक शब्दका उच्चारण स्पष्ट और नियमित हो।

७. स्वर सदा एक रूप न रहे, भावोंके साथ उतरता चढ़ता रहे और खुला हुआ दाहिना हाथ भी उन भावोंके प्रकाशनमें उचित योग दे।

८. पढ़ते समय बहुत उछलना-कूदना, इधर-उधर घूमना न चाहिए। हाँ, मुँह उठाते समय ग्रीवा सब ओरके श्रोता-ओंकी ओर घूमे, केवल एक ओर ही न रहे।

९. प्रारम्भ मन्द स्वरसे करना चाहिए और समाप्त भी धीरेसे करना चाहिए जिससे आदि और अन्तका ठीक ज्ञान हो।

उपर्युक्त दस नियम वाचनके दस प्रमुख नियम कहे जाते हैं। यह कहना यहाँ असंगत न होगा कि विद्यार्थियोंको बैठकर पढ़नेका अभ्यास नहीं डालना चाहिए क्योंकि बैठ-कर पढ़नेमें वह स्फूर्त्ति नहीं दिखलाई पड़ती जो खड़े होकर पढ़नेमें मिलती है।

---

८

# रचना-शिक्षणके उद्देश्य और उसकी समस्याएँ

आजकल हमारे देशके विद्यालयोंमें रचना-शिक्षणको अध्यापकगण बेगार समझते हैं और विद्यार्थी एक दैवी आपत्ति। अध्यापकोंको निबन्ध शुद्ध करते-करते और विद्यार्थीको लिखते-लिखते नाकों दम आ जाता है। न उन्हें उसमें रुचि है न उसे उसमें आनन्द। किन्तु वास्तविक बात यह है कि हमने शिक्षाके इस अंगकी सदा ही उपेक्षा की है। रचना हमारे सम्पूर्ण भाषण और लेखनमय जीवन-की नींव है। यदि वह नींव दृढ़ हो तो सामाजिक संघर्षसे उत्पन्न होनेवाली सैकड़ों हजारों आपदाएँ भस्मसात् हो जायँ और बाधाएँ सम्मुख आनेका दुस्साहस न करें। हमें प्रतिदिन लिखनेका काम पड़ता है। हम विभिन्न अवसरोंपर निमन्त्रण-पत्र लिखते हैं, अपने गुरुजनों, अथवा मित्रोंको पत्र भेजते हैं, संस्कृत समाचार-पत्रोंमें सम्वाद भेजते हैं, अपने धर्म, देश तथा समाजके नामपर आँसू बहाते हैं और स्वान्तः सुखाय साहित्यकी रचना करते हैं।

हमारे यहाँ एक सूक्ति प्रसिद्ध है—'शतं वद एकं मा लिख', अर्थात् सौ बातें कह दो किन्तु लिखो एक भी मत। यह इसीलिये कहा गया है कि लिखकर अपना हाथ न कटाओ। मुँहसे निकली बातका प्रमाण ही क्या। किन्तु जब आपकी लेखनीकी जिह्वा कुछ कह बैठेगी तो वह पत्थर-की लकीर बन जायगी, आप वन्दी हो जायँगे। उसका

लिखा हुआ एक-एक अक्षर आपके विरुद्ध बोल उठेगा। अतएव लेखनी सोच-समझकर उठाओ। स्मरण रक्खो –

लेखनीं मा स्पृश।
स्पृष्ट्वा मा लिख।
लेखनार्थमसकृच्चिन्तनीयम्।
लिखित्वा तस्यावृत्तिं कुरु।

दर्शनीयं यदिष्टार्थव्यतिरिक्तभावस्य ग्रहणं न भवेत्।

अपनी लेखनी उठाओ मत।
उठाते हो तो चलाओ मत॥
चलाते हो तो दो बार सोच लो।
चल चुकनेपर दो बार दुहरा लो॥

देख लो कि प्रत्येक शब्द इच्छित अर्थके अतिरिक्त कोई दूसरा अर्थ तो नहीं देता। सावधान।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वही रचना-शिक्षणका मूल मंत्र है, उसकी कुंजी है, उसका उद्देश्य है। रचना-शिक्षणके द्वारा हम अपने बालकोंको और उसके द्वारा अपने समाज-को यह सिखलाना चाहते हैं कि वे शुद्ध, उचित, लोकसिद्ध, निरापद तथा इच्छित प्रभावोत्पादक भाषामें अपनी बात कह सकें, दूसरोंकी बातोंका उत्तर दे सकें, सत्साहित्यकी सृष्टि कर सकें और इस प्रकार अपना सामाजिक जीवन संस्कृत और सुखमय बना सकें।

यहाँ शुद्ध भाषासे तात्पर्य व्याकरण-सिद्ध भाषासे है। ऐसी भाषाका प्रयोग न हो जो वैयाकरणकी दृष्टिमें खटकता हो या उसे नाक-भौं सिकोड़नेका अवसर देता हो। जैसे—

'ब्रह्मा करोतुर्जीवायुः विष्णुकुर्याच्च संपदम्' अथवा 'अयमान्दोलिकादंडः स्कन्धे किं तव बाधति।' उचित भाषासे तात्पर्य यह है कि वह अवसर तथा पात्रके अनुकूल हो। ऐसा न हो कि मंगल अवसरपर अमंगलकी ध्वनि दे। लोकसिद्ध भाषा वह है जो हमारे समाजके उच्च श्रेणीके लोगोंके मुँहमें बारबार आ-जाकर मँज गई है, जिसका प्रयोग शिष्ट समाजमें भोंडापन समझा जाता है। निरापद्की व्याख्या हम ऊपर संकेतसे कर आए हैं। उसका अर्थ यह है कि हमारी भाषा ऐसी न हो कि दूसरे उँगली उठावें या उसके कारण हम अनायास विपत्तिके चंगुलमें पड़ जायँ। राजनीति और समाजनीतिके व्यापारियोंको इसपर अधिक ध्यान देना चाहिए। इच्छित प्रभावोत्पादक भाषाका अर्थ तो स्वतःसिद्ध है। बात ऐसी कही जाय कि उसका उचित प्रभाव हो, वह केवल आकाशमें विलीन होकर न रह जाय।

विराम-चिह्नों या संकेत-चिह्नोंकी भी एक समस्या आ खड़ी हुई है। संस्कृतकी पुरानी पोथियोंमें ढूँढ़नेसे निम्नलिखित चिह्न मिलते हैं—

। ॥ —

किन्तु अँगरेजीके शुभागमनसे उसके प्रायः सभी अनार्ष्य चिह्न संस्कृतमें भी प्रयुक्त होने लगे हैं। वे हैं—

. , ; : - ! ? " " ( ) [ ]

इन चिह्नोंके विषयमें यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल उन्हीं चिह्नोंका व्यवहार किया जाय जो नितान्त आवश्यक हों जैसे— । ॥ , — तथा " " और यह सिद्धान्त बना लेना चाहिए कि अर्थकी स्पष्टताके लिये जो

चिह्न उचित हो उन्हींका प्रयोग किया जाय, केवल अँधा-धुन्ध अनुकरण न हो।

पाँचवीं समस्या है लेखनीकी। निर्झरिणी अर्थात् फ़ाउण्टेनपेन और लोहेके कलमोंके आविष्कारने सरकण्डे या नरकटके कलमोंका बहिष्कार ही कर दिया है किन्तु नागरी अक्षरोंकी सुन्दरता और बनावटकी रक्षाके लिये आवश्यक है कि नागरी लिखनेके लिये नरकटके कलमका प्रयोग किया जाय। इसकी उपादेयता हम पीछे कह आए हैं।

---

६

# रचनाके विभिन्न स्वरूप और उनकी शिक्षण-विधियाँ

रचना करनेकी इच्छा मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। वह कुछ कहना चाहता है यह सत्य है, किन्तु वह लिखना भी चाहता हो या लिखकर ही अपनी बात कहना चाहता हो यह बात नहीं है। कभी तो अपनी आवश्यकता-वश, कभी परिस्थिति-वश और कभी स्वतन्त्र भावाभिव्यक्तिकी प्रेरणासे मनुष्य लेखनी उठाता है या जीभ हिलाता है।

हम आवश्यकतावश ही बातचीत करते हैं, कथा-वार्त्ता कहते हैं, पत्रादि लिखते हैं। विशेष परिस्थितिमें पड़कर हम अभ्यर्थना करते हैं, आवेदन-पत्र भेजते हैं, अभिनन्दनपत्र या सम्मान-पत्र तैयार करते हैं। और फिर स्वतन्त्र भावाभिव्यक्तिकी इच्छा—दूसरे लोग मुझे जानें, मेरे विचारोंको पढ़ें या समझें—साहित्यिक कृतियोंको जन्म देती है और इसी इच्छासे कथा-वार्त्ता, वर्णन, जीवन-चरित, आत्मकथा, निबंध, नाटक, कविता, टीका, आलोचना आदिकी सृष्टि होती है।

किसी वस्तुको बनानेकी क्रिया ही रचना कहलाती है। इसी प्रकार शब्दोंकी सार्थक तथा कलात्मक सजावटको भाषा-रचना कहते हैं। रचना दो प्रकारकी होती है—मौखिक और लिखित।

हमारे यहाँ अक्षरके रूप और उसके उच्चारणका परिचय होते ही शब्द-ज्ञान और फिर सीधे वाक्य-रचनाका आरम्भ हो जाता है।

रचना सिखानेकी आठ विधियाँ हैं। जिन्हें प्रश्नोत्तर-विधि ( कन्वर्सेशन मेथड ), उद्बोधन-विधि ( एलिसिटेशन मेथड ), प्रबोधन-विधि ( सजेस्शन मेथड ), मन्त्रणा-विधि (गाइडेन्स मेथड), सूत्र-विधि (नोट्स या हिन्ट्स मेथड), तर्क-विधि ( डिस्कशन मेथड), अनुकरण-विधि ( इमिटेशन मेथड ) तथा विचार-विधि ( स्टडी मेथड ) कहते हैं।

१. प्रश्नोत्तर-विधि—यह विधि अत्यन्त प्राचीन है। हमारे देशमें पहले इसी विधिके द्वारा शिक्षा दी जाती थी। किन्तु भेद इतना ही है कि तब शिष्य प्रश्न करता था, गुरु उत्तर देता था, अब गुरु प्रश्न करता है, शिष्य उत्तर देता है। इस प्रणालीमें ध्यान देने योग्य बात यही है कि जिस विषयपर प्रश्न किए जायँ उसका शृंखलाबद्ध वर्णन उत्तरके रूपमें आ जाय। आगे उदाहरण देकर इसकी व्याख्या करेंगे। यह विधि दर्शनकी शिक्षा प्रयोगमें लानी चाहिए। इस विधिमें ये बातें समझ रखनी चाहिएँ— प्रश्न स्पष्ट हों, संक्षिप्त हों। प्रश्न एक ही बातके लिये किया जाय अर्थात् एक प्रश्नके उत्तरमें बहुतसी बातें न आ जायँ। प्रश्न संगत हों अर्थात् एक प्रश्नका दूसरेसे संबन्ध हो। प्रश्न बालकोंकी अवस्था और योग्यताके अनुकूल हों। 'यादृम्' या 'नो' में उत्तर लानेवाले प्रश्न न हों।

२. उद्बोधन-विधि—इसमें स्वतः विद्यार्थियोंसे ही निर्दिष्ट विषयके सम्बन्धमें ज्ञातव्य बातें निकलवाई जाती हैं। उनकी कल्पना-शक्तिको उद्दीप्त करके उन्हें स्वतः वर्ण्य विषयके विभिन्न अंगोंकी खोज करने और ढूँढ़ निकालनेको उत्साहित किया जाता है।

३. प्रबोधन-विधि—इस विधिमें संपूर्ण सामग्री अध्यापक ही सूत्र रूपमें दे देता है, बालक केवल अपने अध्यापक द्वारा प्रदत्त ज्ञानको भाषा-निबद्ध करते हैं। यह विधि केवल वैज्ञानिक विषयोंमें अथवा उन विषयोंकी रचना-शिक्षाके काममें लानी चाहिए जो विद्यार्थी न जानते हों।

४. मन्त्रणा-विधि—इस विधिमें अध्यापक रचनाके लिये एक विषय दे देता है और तत्सम्बन्धी पुस्तकों, लेखों, पत्रों आदिके नाम बतला देता है और विद्यार्थी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार उस सामग्रीमेंसे अपने प्रयोगकी वस्तु निकाल लेते हैं। यह एक प्रकारसे पथ-प्रदर्शन-प्रणाली है। इसमें विद्यार्थीको स्वावलम्बनका अवसर तो मिलता ही है साथ ही उसे यह भी ज्ञान हो जाता है कि एक ही विषयको दो विद्वान् लेखक किन दृष्टियोंसे देखते हैं और किस प्रकार उसका विवेचन करते हैं। विद्यार्थियोंको उनकी लेखन-शैलीका भी ज्ञान होता है और नए तथा समुचित शब्दोंका प्रयोग भी आ जाता है।

५. सूत्र-विधि—इस विधिमें अध्यापक श्यामपट्ट-पर वर्ण्य विषयके सूत्र लिखते हैं जिन्हें मिलाकर विद्यार्थी पूरा लेख तैयार कर देता है। इन सूत्रोंमें संगति और सक्रमता होनी चाहिए। यह प्रणाली प्रारम्भसे लेकर अन्ततक काम

आ सकती है और केवल उन्हीं जीवन-चरितों तथा कथाओं-के लिये प्रयुक्त होनी चाहिए जो विद्यार्थी न जानते हों।

६. तर्क-विधि—यह विधि उन विषयोंके लिये प्रयुक्त होती है जिनके पक्ष या विपक्षमें बहुत कुछ कहा जा सके और जिनके विषयमें हमारे समाजके नेताओंमें मतभेद हो। हमारी सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक समस्याओं-पर इसी विधिसे रचना कराई जा सकती है। इसका विधान यह है कि कक्षामें दो दल बनाकर वर्ण्य विषयपर शास्त्रार्थ करा दिया जाय। जब विद्यार्थी कक्षामें उसपर विचार कर लें तब वह लिखनेके लिये दिया जाय।

७. अनुकरण-विधि—इस विधिमें एक विशिष्ट शैलीमें लिखा हुआ कोई लेख, नाटक, आख्यान या वर्णन छात्रोंको दे दिया जाता है और यह आदेश दे दिया जाता है कि निर्दिष्ट शैलीमें मौलिक रचना करो।

८. विचार-विधि—इस विधिमें विद्यार्थिगण परस्पर विचार करके अथवा अपने गुरुजनोंके साथ परामर्श करके अथवा पुस्तकोंका आश्रय लेकर निबन्ध लिखते हैं। यह विधि उन उच्च कक्षाओंके लिये है जहाँ अध्यापकका बहुत कम सहारा लिया जाता है।

रचना-शिक्षण-प्रणालीकी चर्चा हम यहीं समाप्त कर फिर रचनाकी व्यवस्थापर चलते हैं। ऊपर कहा गया है कि वाक्य-रचनाका अभ्यास संवादात्मक या प्रश्नोत्तर-प्रणाली-से कराया जाता है। उदाहरणके लिये आभ्यासार्थीसे प्रश्न किया गया—किन्नामासि। वह उत्तर देगा—देवदत्त नामाहम्। पुनः प्रश्न हुआ—किं करोषि। उत्तर मिला—अहं पठामि। इस प्रकार विद्यार्थीको स्वयं धीरे-धीरे वाक्य-

रचनाका अभ्यास होने लगता है। उक्त अभ्यास हो जाने-पर उसका विकास चित्र-वर्णन द्वारा कराया जाता है। एक चित्र लीजिए—
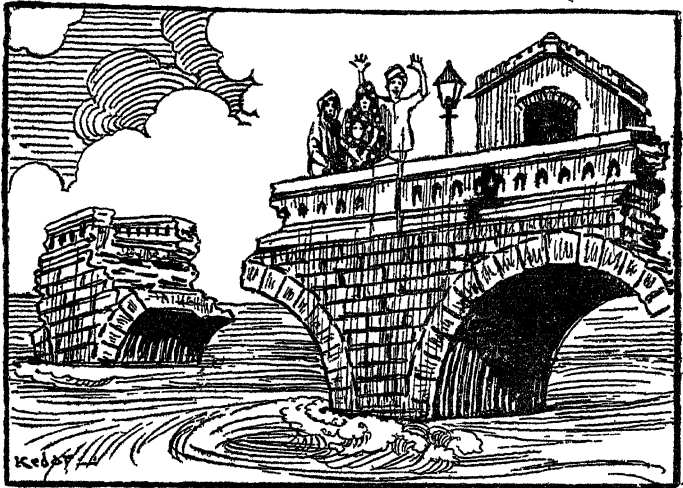
ऊपर दिए हुए चित्र पर प्रश्नोत्तर इस प्रकार होगा—

प्रश्न—चित्रे किं पश्यसि ?

उत्तर—एका नदी प्रवहति, तदुपरि सेतुः वर्त्तते ।

प्रश्न—सेतोः का दशा विद्यते ?

उत्तर—सेतुः छिन्नोस्ति ।

प्रश्न—केन कारणेन छिन्नः ।

उत्तर—पूरात् ।

प्रश्न—छिन्ने भागे किं विद्यते ।

उत्तर—एका कुटी विद्यते ।

प्रश्न—कस्येयं कुटी ।

उत्तर—सेतुरक्षकस्य कुटी विद्यते ।

प्रश्न—कुल्याः पार्श्वे किं पश्यसि ।

उत्तर— केचिज्जनाः तत्र स्थिता सन्ति ।

प्रश्न—के ते सन्ति ।

उत्तर—सेतोः रक्षकः, तस्य पत्नी पुत्राश्च ।

प्रश्न—ते किं कुर्वन्ति ।

उत्तर—सर्वे ऊर्ध्व-हस्ताः सन्ति ।

प्रश्न—कथम् ।

उत्तर—ते साहाय्यमिच्छन्ति ।

प्रश्न—कथं तेसाहाय्यमिच्छन्ति ।

उत्तर—सेतोः पतनभयात् साहाय्यमिच्छन्ति ।

प्रारम्भमें तो विद्यार्थी प्रश्नोंका पूर्ण उत्तर प्रायः न दे पायँगे। वे भाव मात्र कहेंगे। यदि उनसे पूछा जाय किन्नामासि, तो वे छूटतेही उत्तर देंगे—धनुर्धरः। वे संभवतः 'धनुर्धर नामाहम्' न कह पायँगे। पर इससे अध्यापकोंको घबराना नहीं चाहिए। धीरे-धीरे ये आंशिक उत्तर पूर्ण उत्तर बन जायँगे।

चित्र-वर्णनमें ही कल्पनाका मिश्रण होना भी आरम्भ हो जाता है पहले विद्यार्थी वस्तुस्थितिका ही वर्णन करता है और फिर उसीके साथ-साथ अपनी कल्पना-शक्तिका उपयोग भी। इसी प्रश्नोत्तर-प्रणालीके साथ-साथ उद्बोधन-प्रणाली भी चलती है।

इसी दूसरी अवस्थामें ही चित्र-वर्णनके पश्चात् कथा-कहानीका आगमन होता है। अध्यापक विद्यार्थियोंको कोई कहानी सुनाकर फिर वही कहानी उनके मुखसे कहलाता है। कभी-कभी अध्यापक कुछ दिन पहले अपनी सुनाई हुई

कोई पुरानी कहानी विद्यार्थियोंसे दुहरवाता है। इसका भी अभ्यास हो जानेपर वर्णन करनेकी शिक्षा दी जाती है।

बालकोंमें वर्णन करनेकी स्वतः रुचि होती है। वे मेले-तमाशे आदिमें जो कुछ देखते-सुनते हैं उसकी सूचना शीघ्र-से शीघ्र दूसरोंको देनेके लिये उतावले रहते हैं। प्रायः देखा जाता है कि बच्चे कोई वस्तु देख आनेके बाद द्वारसे ही उसका वर्णनात्मक विवरण देने लगते हैं। इसलिये उन्हें वर्णन-द्वारा रचनाका अभ्यास करानेमें सुविधा होती है। पास-पड़ोस, हाट-बाज़ार, गाँव और नगरके समीपकी दृश्यावली आदिका वर्णन उनसे बड़ी आसानीसे कराया जा सकता है। इस प्रकार उनकी रचना-शक्ति उत्साहित होकर अग्रसर होती है।

इसके पश्चात् अवसर विशेषपर किससे किस प्रकार वातचीत करनी चाहिए इसकी शिक्षा विद्यार्थीको अवश्य देनी चाहिए। किसीके यहाँ ब्याह-बरात, काम-काजपर जाकर किस प्रकार हर्ष या शोक प्रकट करना चाहिए, अभ्यागतसे किस प्रकार बातचीत कर उसे मधुर वचनोंसे परितृप्त करना चाहिए, अपने बड़ों और छोटोंसे किस प्रकार बातचीत करनी चाहिए, इन बातोंकी शिक्षा मनुष्यकी जीवन-यात्रामें प्रायः काम आनेवाली होती है। इसका विस्तृत विवेचन हम बोलचालकी शिक्षामें कर चुके हैं।

इस मौखिक रचनाके साथ ही साथ लिखित रचनाकी व्यवस्था भी आरंभ हो जाती है। मौखिक रचनामें चित्र-वर्णनकी शिक्षाका आरंभ होते ही वही वर्णन विद्यार्थी-द्वारा लिखाया जा सकता है। अध्यापकको चाहिए कि चित्रकी मुख्य बातें श्यामपट्टपर लिख दें और फिर उसीके आधार-

पर विद्यार्थियोंको लिखित वर्णन करनेकी प्रेरणा करें। इसके बाद उनसे कथा-कहानीकी लिखित पुनरावृत्ति करावें और फिर विद्यार्थियोंको कहानी लिखनेके लिये कहें। इसीके साथ-साथ हाट-बाजार या किसी दृश्यावलीका वर्णन भी लिखाया जा सकता है।

तीसरी अवस्थामें विद्यार्थी इस योग्य हो जाता है कि उसे अनुच्छेद-रचना सिखाई जा सके। लिखित विषयको उचित स्थानोंसे विलग करके एक-एक बातको उचित स्थान या विश्राम देते हुए नवीन विषयकी चर्चा नवीन पंक्तिसे आरंभ करनेकी क्रियाको अनुच्छेद-रचना कहते हैं। इसी समय विद्यार्थीसे दिनचर्य्या भी लिखाई जा सकती है। दिन-चर्य्या लिखनेकी विधि विद्यार्थीको एक बार बतला देनी चाहिए। इन सब बातोंका अभ्यास हो जानेपर पाठ्य-पुस्तकमें आई हुई कथा-कहानियाँ विद्यार्थियोंसे उनकी भाषामें लिखवानी चाहिए। इस स्थानपर उन्हें मुहावरोंके समुचित प्रयोगसे अवश्य परिचित करा देना चाहिए। तत्पश्चात् उन्हें काल्पनिक सरल वर्णन करनेके लिये कहना चाहिए। साथ ही अपनी रचनापर समुचित शीर्षक लगाने-की कलाका भी अभ्यास करना चाहिए।

चौथी अवस्थामें विद्यार्थीको पत्र-व्यवहार करनेका ढंग बतला देना चाहिए। इसीके साथ-साथ उसे निमन्त्रणपत्र, आवेदनपत्र, सूचना, अभिनन्दन और अभ्यर्थना आदि लिखनेकी भी शिक्षा देनी चाहिए और इसके बाद उसे समाचार, विज्ञापन तथा आत्म-चरित लिखनेकी कला बतलानी चाहिए।

अब विद्यार्थीमें इतनी समझ आ जाती है कि उससे

निबन्ध रचनाका अभ्यास कराया जा सके। अतः इस अवस्थामें उसे कथात्मक, वर्णनात्मक और विचारात्मक निबन्धोंका परिचय देकर निबन्ध लिखाना आरम्भ कर देना चाहिए। इसी समय उससे जीवनी और रामकहानी भी लिखवानी चाहिए। कहानियोंमें भी उसे एकदम मौलिक रचना करनेके लिये बाध्य न करना चाहिए। पहले दूसरों-की लिखी हुई कहानियोंके आधारपर कहानी लिखनेका अभ्यास कराना चाहिए और तत्पश्चात् स्वतंत्र कहानी लेखनके लिये उत्सा हत करना चाहिए। विद्यार्थीमें जब उक्त योग्यता आ जाय तब उसे संवाद, सरल एकांकी नाटक तथा वार्त्तालाप आदि लिखनेकी ओर प्रवृत्त करना उचित है। इस अवस्थाकी अन्तिम सीढ़ी अनुवाद है। विद्यार्थीका जिन दो भाषाओंसे परिचय हो उनका परस्पर अनुवाद करनेका काम विद्यार्थीसे लेना चाहिए।

उक्त पद्धतिसे शिक्षित विद्यार्थी पाँचवीं अवस्थामें गद्य और पद्यकी रचनामें समर्थ हो जाता है अतः उसे निबन्ध, आलोचना, नाटक, गद्य-काव्य, कविता आदिके तत्त्वों तथा सिद्धान्तोंका सम्यक् परिचय देकर उससे इन रचनाओंका अभ्यास कराया जा सकता है।

छठी अवस्था विद्यार्थीको लिखित रचानाकी पूर्णता प्राप्त करा देती है। इस अवस्थामें विद्यार्थी संक्षेपीकरण, साहित्य-समीक्षा, सम्पादकीय लेख और पत्र-सम्पादनकी शिक्षा भी प्राप्त कर सकता है। इतना हो जानेके बाद उसकी रचना-विषयक शिक्षा पूर्ण हो जाती है।

हमें यह न समझना चाहिए कि केवल वर्णनात्मक, कथा-त्मक तथा विचारात्मक निबंध लिखवानेसे ही हमारा कर्तव्य

समाप्त हो जाता है। शालासे निकलनेके बाद संस्कृतके छात्र-को इस योग्य हो जाना चाहिए कि वह साहित्यिक रचना-ओंके सभी रूपोंसे परिचित हो और उसमें प्रवेश पा सके।

यहाँतक तो हमने रचनाके विविध रूपों और रचना-शिक्षण विधियोंकी व्याख्या मात्र की है। आगे हम रचनाके अभ्यासके लिये कुछ विधानोंका उल्लेख करेंगे।

ऊपर हमने विभिन्न अवस्थाओंमें रचनाके प्रकारकी जो व्यवस्था बताई है उसे हम अध्यापकोंकी सुविधाके लिये विस्तारसे नीचे देते हैं।

---

| अवस्था | विषय तथा विस्तार |
| --- | --- |
| पहली मौखिक | १. वाक्य-रचना<br>२. सूक्तियोंका प्रयोग<br>३. बातचीतके द्वारा विशेष अवसरोंके योग्य भाषाका प्रयोग अर्थात् सामाजिक शीलकी भाषा |
| दूसरी मौखिक तथा लिखित | १. चित्र वर्णन<br>२. कथा-कहानी<br>३. सरल-वर्णन ( घर, पास-पड़ोस, पाठशाला, हाट-बाजार, आस-पासके दृश्य, नदी-नाले, पहाड़ियाँ, मेले-तमाशे, संगी-साथी, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, खेती-बारी, फूल-पत्ते, गाड़ी-घोड़े, घरेलू काम-धन्धे, खेल-कूद, तैरना, पेड़पर चढ़ना आदि ) |
| तीसरी लिखित | १. अनुच्छेद-रचना<br>२. दिनचर्य्या<br>३. कथा कहानी, ( पाठ्य पुस्तकोंमें पढ़ी हुई कथाओंकी आवृत्ति )<br>४. सरल यात्रा–वर्णन (अनुभूत तथा काल्पनिक) (पैदल, बैलगाड़ीपर, हाथीपर, ऊँट-गाड़ी या ऊँटपर, घोड़ेगाड़ी इक्के या घोड़े-पर, भैंसागाड़ी या भैंसेपर, गधेपर, साइ-किलपर, पालकीपर, रिक्शेपर, नावपर) |

| अवस्था | विषय तथा विस्तार |
|---|---|
| चौथी लिखित | १. यात्रा-वर्णन (अनुभूत तथा काल्पनिक) (मोटर-गाड़ीपर, रेल-गाड़ीपर, वायुयान-पर, जल-पोतपर, बारहसिंगे तथा कुत्तेकी फिसलन गाड़ी (स्लेज) पर) |
| | २. पत्र (घरेलू तथा कामकाजी, निमंत्रण, आवेदन, सूचना, अभिनन्दन, अभ्यर्थना (अपील), समाचार, विज्ञापन) |
| | ३. जीवन-चरित |
| | ४. रामकहानी, आपबीती |
| | ५. छोटे निबन्ध (कथात्मक, वर्णनात्मक, विचारात्मक) |
| | ६. कहानियाँ (मौलिक, अनूदित, प्रामाणिक) |
| | ७. संवाद (वार्त्तालाप, हास्य-विनोद, चुटकुले) |
| | ८. अनुवाद (दूसरी भाषाओंका संस्कृतमें) |
| पाँचवीं लिखित | १. सरल निबन्ध (सब प्रकारके) |
| | २. सरल आलोचना |
| | ३. एकांकी नाटक |
| | ४. छोटी कहानियाँ |
| | ५. तुकबन्दी तथा कविता |

| अवस्था | विषय तथा विस्तार |
|---|---|
| छठी लिखित | १. साहित्यिक निबन्ध<br>२. समालोचना<br>(धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक)<br>३. साहित्य-समीक्षा<br>४. नाटक<br>( धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा समस्यात्मक )<br>५. उपन्यास<br>६. गद्यकाव्य<br>७. कविता<br>८. भूमिका तथा प्रस्तावना<br>९. पुस्तकोंकी समीक्षा<br>१०. संक्षेपीकरण<br>११. सम्पादन<br>(संपादकीय लेख, लेखों तथा समाचारों-का संपादन, विज्ञापनकी व्यवस्था आदि)<br>१२. टीका |

१०

## शैली तथा रचनामें कुशलता प्राप्त करनेके उपाय

अभी तक हमने रचनाके विविध रूपों तथा उन्हें सिखानेकी विधियोंका ब्यौरेवार वर्णन किया है। हमने अभी तक रचनाके एक अंग अर्थात् विषय-सामग्रीकी व्यवस्थापर ही अपने विचार परिमित कर रक्खे थे किन्तु सुन्दरसे सुन्दर सामग्री भी तबतक व्यर्थ है जबतक उसे उचित तथा सुन्दर भाषाका आवरण न पहनाया गया हो। भाषाका प्रयोग अभ्याससे आता है। यह अभ्यास या तो बहुत पढ़नेसे आता है या बहुत लिखनेसे। एक विद्वान्‌ने सच कहा है कि 'अधिक पढ़नेवाला अच्छा वक्ता होता है और अधिक लिखनेवाला ही अच्छा लेखक हो सकता है।'

यहाँपर भाषा-शैलीका विवेचन करना भी असंगत न होगा क्योंकि लेखन और शैलीका चोली-दामनका साथ है। बिना शैलीकी शिक्षा दिए रचना-शिक्षा व्यर्थ है।

भाषाकी दृष्टिसे अभिव्यक्तिकी दो रीतियाँ बतलाई जाती हैं जिन्हें शैली और शक्ति कहते हैं। परन्तु शक्ति तो शैली विशेषका ही एक गुण है। शैलीके अन्तर्गत दो बातें आती हैं—एक तो विषय और दूसरे भाषा। विषय और भाषाके भी दो-दो विभाग हैं। विषयमें पहली बात है दृश्यका वर्णनात्मक चित्र और दूसरी बात है चरित्रकी बाह्य रूप-रेखा। भाषा-सम्बन्धी भेदमें शब्द और अर्थ नामक विभाग किए जाते हैं। लिखने और बोलनेमें शब्द-भेदके कारण अर्थ-

भेद होता है पर कभी-कभी केवल बोलनेमें उच्चारण-भेदसे भी अर्थ-भेद हो जानेकी सम्भावना रहती है। शब्द-भेदसे होनेवाला अर्थ भेद तीन प्रकारका होता है जिसे वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ कहते हैं। इसे संस्कृतके सभी विद्वान समझते हैं।

प्रभावोत्पादक होना भी शैलीका एक प्रमुख गुण है। इस गुणकी प्राप्तिके चार उपाय हैं जिन्हें हम भावुकता, तार्किकता पुनरावृत्ति और प्रमाण-बहुलता कह सकते हैं। इसमें भावुकतावाली शैली वहाँ काममें लानी चाहिए जहाँ जन-समूहको सम्बोधित करके उनके हृदयको, मनको वशमें करना हो। इसका प्रभाव सदा क्षणिक होता है। विद्वानोंमें आदर पानेके लिये तार्किकतावाली शैली भारी सहारा देती है। किसी बातको बार-बार दुहराते हुए समझाते चलने की शैलीका प्रयोग विद्यार्थियोंके उपयोगमें आनेवाली पुस्तकोंके लिये आवश्यक ही नहीं अनिवार्य्य भी है। प्रमाण-बहुला शैलीका प्रभाव मध्यम श्रेणीके लोगोंपर बहुत पड़ता है। अतः आवश्यकतानुसार इनका प्रयोग करना चाहिए।

किन्तु लेखक होनेकी आवश्यक कसौटी यह है कि उसके मस्तिष्कमें शब्दोंका भरपूर भाण्डार हो, शब्दोंको उचित रूपसे चयन करनेकी तथा उचित प्रयोग करनेकी बुद्धि हो और कौनसी बात किस प्रकारसे कही जाय इसका ज्ञान हो। हम लोग साधारणतः अपने विद्यार्थियोंको एक विषयपर लिखनेका आदेश दे डालते हैं। हम इस बातकी तनिक भी चिन्ता नहीं करते कि विद्यार्थीके पास शब्द-भाण्डार भी है या नहीं। अतः विद्यार्थीको लिखनेका आदेश देनेसे पूर्व उसके हाथमें कुछ सामग्री

दे देनी चाहिए। और उसे कुशल बनानेके लिये कुछ अभ्यास करा देने चाहिएँ। हम नीचे अध्यापक द्वारा दी जानेवाली तथा अभ्यास-योग्य कुछ सामग्रीका उल्लेख करते हैं। इस सामग्री और इन अभ्यासोंका विधान प्रत्येक श्रेणीके अनुकूल होना चाहिए।

(क) अध्यापक-द्वारा विद्यार्थियोंको दी जानेवाली सामग्री—

१. उस श्रेणीके योग्य शब्द-समूह।

२. सूक्ति-भण्डार।

३. उस श्रेणीके योग्य पुस्तकोंकी सूची।

(ख) कल्पना-शक्ति तथा शब्द-प्रयोगका अभ्यास बढ़ानेके योग्य सामग्रीका निर्देश—

१. संज्ञाओंके अनुकूल उचित विशेषणोंके चुनावका अभ्यास।

२. वाक्योंमें उपयुक्त क्रियाओंके चुनावका अभ्यास।

३. दिए हुए सूत्रोंके आधारपर पूरी कथा या जीवन-चरितकी रचना करना।

४. निम्नलिखित घटनाको बढ़ाकर लिखो—

एकदा संध्यायां अस्तंगते सवितरि काचित्<br>
नरनारिसंकुला नौका नद्यां ममज्ज।

५. जिस समय रावण सीताजीको हरकर ले रहा था उस समय तुम वहाँ होते तो क्या करते।

६. यदि आज रावण लंकाका राजा होता और तुम्हारी पाठशाला देखने आता तो वह कैसा होता और किस प्रकार व्यवहार करता। वह संस्कृतका पंडित था।

७. एक मित्रने तुम्हें निमन्त्रण दिया है, तुम उनके यहाँ

भोजन नहीं करना चाहते क्योंकि वे मांसाहारी हैं। एक ऐसा अस्वीकृति-पत्र लिखो कि वे बुरा न मानें। स्मरण रक्खो कि बीमारी या बाहर जानेका बहाना न हो।

८. प्राकृतमें लिखे हुए गद्यको संस्कृतमें रूपान्तरित करना अथवा किसी काव्यके एक सर्गको संस्कृत गद्यमें लिखना।

९. एक बालक इक्केके नीचे आ रहा था। तुमने उसे बचा दिया और तुम्हें कुछ चोट आगई है। उस बालकके पिताने तुम्हारे लिये दस रुपये और कृतज्ञताका पत्र भेजा है। तुम नोटको अस्वीकार करते हुए उस पत्रका उत्तर दो।

१०. नाटकमें तुम्हारे एक मित्रने सुन्दर अभिनय किया है। तुम्हें उसके अभिनयमें क्या बात अच्छी लगी उसका वर्णन करो।

११. एक मद्रासी सज्जन तुम्हारे नगरके विषयमें जानना चाहते हैं। ऐसी भाषामें उन्हें समझाइए कि भली-भाँति समझ सकें। वे टूटी-फूटी संस्कृत जानते हैं।

१२. बिना नाम बताए एक परिचित नगरका ऐसा वर्णन कीजिए कि लोग उसका नाम समझ जायँ।

१३. एक ऐसे दृश्यका वर्णन करो जिसमें एक साथ पूर्ण बदली, आँधी तथा वर्षाका वर्णन हो। अस्वाभाविक न होने पावे।

१४. अपने किसी अभिमानी या शैतान मित्रका ऐसा व्यंग्यात्मक वर्णन करो कि उसका नाम कहीं न आवे पर वह और उसे जाननेवाले सब लोग समझ जाय और बुरा न मानें। साथ ही उस वर्णनको पढ़कर वह अपना सुधार कर ले।

ऊपर हमने कुछ ऐसे अभ्यासोंके लिये सामग्री दी है जिससे रचनामें कुशल होनेके लिये भाषाका भी विकास हो सकता है तथा कल्पनाका भी। इस सामग्रीका पूर्ण उपयोग तथा इसमें नवीनता लानेका कुल भार अध्यापककी योग्यतापर निर्भर है। इस विवेचनके साथ रचना-शिक्षाका प्रकरण समाप्त किया जाता है।

---

११

## व्याकरणकी शिक्षा

यद्यपि बहु नाधीतं तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो सकलं शकलं सस्वत् सकृच्छकृत्॥

व्याकरणकी शिक्षाके बिना भाषा-विषयक शिक्षा कदापि पूर्ण नहीं होती। व्याकरण ही भाषाका शासक होता है। व्याकरणके नियमोंको न मानकर चलनेसे भाषा उच्छृङ्खल हो जाती है और जिस प्रकार उच्छृङ्खल व्यक्तिकी चाल-ढाल निरंकुश हो जानेके कारण किसीकी समझमें नहीं आती और समाज उसे अपना त्याज्य सदस्य समझने लगता है उसी तरह उच्छृङ्खल भाषा भी किसीकी समझमें नहीं आती और लोग उसे हीन दृष्टिसे देखने लगते हैं। यदि भाषाको रथ और भावको रथी मान लें तो व्याकरणको सारथी मान सकते हैं क्योंकि व्याकरण ही भाषाको इस प्रकार सम्यक मार्गपर चलाता है कि अभिप्रेत भाव सरलतासे अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँच जाते हैं। कहनेका तात्पर्य यह कि व्याकरणकी शिक्षा भाषा-शिक्षाका एक आवश्यक और अनिवार्य अङ्ग है। किन्तु शुष्क नियमों और उपनियमोंका बृहत् समुच्चय होनेके कारण उसकी गिनती नीरस विषयोंमें की जाती है। गणितके समान व्याकरण भी रूखा विषय समझा जाता है और इसी कारण व्याकरणके पठन-पाठनसे विद्यार्थी बहुत घबराते हैं। व्याकरणसे भय खानेवाले विद्यार्थियोंकी संख्या सभी देशोंमें अधिक पाई जाती है। किन्तु संस्कृत ज्ञानके लिये संस्कृतका व्याकरण अनिवार्य है।

संस्कृतका व्याकरण संसार भरकी भाषाओंके व्याकरणोंकी अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण है और उसकी पूर्णता ही उसकी जटिलताका कारण है। इसी जटिलताके कारण संस्कृतके वैयाकरणोंमें यह प्रवाद प्रचलित है कि बारह वर्ष पढ़े बिना संस्कृत व्याकरणकी पूरी जानकारी हो ही नहीं सकती। द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते। ध्यान रखना चाहिए कि संस्कृतकी आधुनिक पाठन-पद्धतिमें सुग्गा ही आदर्श माना जाता है। एक अक्षर भी समझे बिना सारी पोथी कंठाग्र कर लेना ही करामातकी बात समझी जाती है। इसीलिये वह आतंकका विषय बन गया है। परन्तु यदि ध्यान देकर देखा जाय तो व्याकरण पढ़ना-पढ़ाना भयकी बात नहीं है।

योग्यता, आकांक्षा और आसत्तियुक्त शब्द-समूह ही वाक्य कहलाता है। वाक्य-रचना गद्य और पद्य दोनोंमें होती है। पर दोनोंके गठनमें अन्तर होता है।

बिना कारक और क्रियाके वाक्य नहीं बनता। अतः वाक्यमें कारक और क्रियाका सम्बन्ध होना आवश्यक है। कारकका सम्बन्ध क्रियासे होता है। इसलिये संस्कृतवाले सम्बन्ध कारकका औचित्य स्वीकार नहीं करते और छः ही कारक मानते हैं। विभक्ति वह प्रत्यय है जो शब्दमें लगकर अन्य शब्दोंसे उसका सम्बन्ध बताती है। अतः व्याकरणकी शिक्षामें कारक और विभक्तिका ज्ञान देना आवश्यक है। इसके बिना शुद्ध वाक्य रचना हो ही नहीं सकती। अध्यापकको इसकी विशेषता अवश्य समझानी चाहिए। नहीं तो उस छात्रकी सी अवस्था होगी जिसकी इस अबोधताके कारण गुरुकन्याने उससे विवाह अस्वीकार करते हुए कहा था—

यस्य षष्ठी चतुर्थी च विहस्य च विहाय च।
यस्याहं च द्वितीया स्यात् द्वितीया स्यामहं कथम् ॥

## व्याकरणकी शिक्षण-पद्धति

व्याकरण पढ़ानेकी पाँच प्रणालियाँ हैं—

( १ ) सूत्र-प्रणाली
( २ ) प्रयोग प्रणाली
( ३ ) पाठ्य-पुस्तक-प्रणाली
( ४ ) अन्याकृति-प्रणाली
( ५ ) सहयोग-प्रणाली

सूत्र प्रणालीमें व्याकरणके नियम सूत्र रूपमें कण्ठस्थ करा दिए जाते हैं और बादमें उदाहरणोंके द्वारा समझा दिए जाते हैं। जैसा संस्कृत व्याकरणकी शिक्षामें होता है।

सूत्र-प्रणालीसे एकदम उल्टी प्रयोग-प्रणाली है। अँगरेजी की 'इण्डक्टिव' प्रणालीके समान इसमें पहले पर्य्याप्त उदाहरण दे दिए जाते हैं और अन्तमें एक व्यापक नियम निकलवाया जाता है और फिर उसका अभ्यास कराया जाता है। यह सूत्र-प्रणालीकी अपेक्षा अधिक उपयोगी है। इस पद्धतिसे व्याकरण पढ़ानेमें विद्यार्थीकी उत्सुकता अन्त तक बनी रहती है जिससे वह सब बातें सुनता, समझता और धारण कर लेता है। यदि व्याकरण पढ़ाना अनिवार्य हो तो इसी पद्धतिका प्रयोग उचित है।

तीसरी अर्थात् पाठ्य-पुस्तक-प्रणालीको हम सुग्गा-प्रणाली कह सकते हैं। संस्कृत व्याकरणकी आधुनिक शिक्षा प्रायः इसी प्रणालीसे दी जाती है। विद्यार्थी सारी पुस्तक

बिना कुछ समझे-बूझे कण्ठस्थ कर लेता है। यह नियम कष्ट-साध्य होनेके साथ-साथ व्यर्थ भी है। सुग्गा-प्रणालीसे विद्यार्थीको कोई वास्तविक लाभ नहीं होता, केवल स्मरण-शक्तिपर व्यर्थका बोझ अवश्य पड़ता है।

अव्याकृति-प्रणालीवाले अलग व्याकरण-शिक्षाकी उपयोगिताको नहीं स्वीकार करते। उनकी दृष्टिमें व्याकरण पढ़ाना ही दोष है। उनका कथन है कि उन लेखकोंकी ही रचनाएँ पढ़ो जिनका भाषापर अधिकार है, धीरे-धीरे तुम भी भाषापर अधिकार प्राप्त कर लोगे।

सहयोग-प्रणालीवाले इतनी दूर तक तो नहीं जाते पर व्याकरणके प्रति उनका भी भाव अव्याकृतिवालोंके जैसा ही है। वे स्वतन्त्र रीतिसे व्याकरण-शिक्षाके विरोधी होते हुए भी इतना स्वीकार करते हैं कि आवश्यकतानुसार रचना-शिक्षणके साथ-साथ व्याकरणके नियम भी बताए जा सकते हैं।

ऐसी दशामें हम चाहे जिस प्रणालीसे व्याकरण पढ़ावें पर यह स्मरण रक्खें कि नागरीमें वाक्यविश्लेषण और पदच्छेदकी बिलकुल आवश्यकता नहीं पड़ती, इसलिये न तो इन्हें पढ़ानेकी आवश्यकता है और न तो प्रश्न-पत्रमें पूछनेकी।

इस सम्बन्धमें यह प्रश्न रह ही जाता है कि व्याकरण कब पढ़ाया जाय। प्रारम्भिक अवस्थावाले विद्यार्थीको व्याकरण पढ़ाना उसपर केवल एक बोझ लादना है। रचनामें थोड़ी-बहुत गति हो जानेके पश्चात् ही व्याकरणकी शिक्षा श्रेयस्कर है। लार्ड मेकौलेका कथन है कि मनुष्य उसी भाषाका पूर्ण पण्डित हो सकता है जिसे उसने पहले और

जिसका व्याकरण उसने पीछे सीखा हो। उदाहरणके लिये मातृभाषाको ले लीजिए। मातृभाषापर हमारा अबाध अधिकार इसीलिये हो जाता है कि हम भाषा पहले सीख लेते हैं और उसका व्याकरण पीछे।

## उक्तियोंका प्रयोग

व्याकरणका काम केवल भाषाको व्यवस्थित करना है। अतएव व्याकरणको पतञ्जलिने शब्द-शासन नहीं शब्दानुशासन कहा है। वाक्यका कौनसा अङ्ग किस स्थानपर रहना चाहिए इसकी व्यवस्था करना व्याकरणका उद्देश्य है। किन्तु भाषामें चमत्कार-द्वारा सौन्दर्य्य उत्पन्न करना व्याकरणके बूतेकी बात नहीं। इस अभावकी पूर्त्ति रूढ़ोक्ति करती है। मुहावरा एक प्रकारका विद्रोही सुधारक है जो अनुशासक व्याकरणके बन्धनोंकी चिन्ता न कर अपने उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये सतत प्रयत्नशील रहता है और बेचारा व्याकरण मन मारकर उसकी धाँधलियोंको स्वीकार करनेके लिए बाध्य हो जाता है।

भाषा यद्यपि मनोभावोंको प्रकट करनेका सर्वोत्कृष्ट साधन है तथापि इस साधनके अभावमें भी मनुष्यका कार्य कभी रुका न रहा। वह पाणिमुद्राओं, अक्षि-विकारों तथा अस्पष्ट ध्वनिसंकेतों द्वारा अपना काम चला ही लेता था। आज भी भाषा जब भावोंको स्पष्ट तथा व्यक्त करनेमें असफल रह जाती है तब मनुष्य अक्षिविकार, पाणिविहार आदि सहज और स्थूल साधनों द्वारा ही अपने भावोंको दूसरोंपर ठीक-ठीक प्रकट कर पाते हैं। भावोंकी तीव्र, मध्यम तथा साधारण अनुभूतिके अनुसार ही भाषाकी गति भी तीव्र,

मध्यम अथवा साधारण होती है। बहुधा यह देखा जाता है कि क्रोध, वात्सल्य, हर्ष भय और आश्चर्यकी तीव्र अनुभूतियाँ भावोंको भाषाके साँचेमें नहीं ढलने देतीं। ऐसे अवसरोंपर मनुष्य उपर्युक्त भावसूचक विभिन्न संकेतात्मक ध्वनियोंका प्रयोग करता है। अतः भाषा भावके सहारे चलती है। रसना-रङ्गमंच पर यदि भाव-सूत्रधार मौन रहे तो भाषा-नटी भी निश्चेष्ट ही रहेगी।

हम कह चुके हैं कि भाषा रथ है, भाव रथी, व्याकरणको सारथी मान लीजिए। यद्यपि रथको सारथी चलाता है तथापि सारथीपर रथीका ही नियन्त्रण रहता है। जिस प्रकार सारथी द्वारा रथ एक निश्चित मार्गपर जाते हुए भी रथी-द्वारा बीचमें ही भिन्न दिशाकी ओर जानेके लिये बाध्य किया जा सकता है उसी प्रकार व्याकरणके बन्धनमें चलती हुई भाषा भी भावके संकेतपर पथ परिवर्त्तन कर देती है। व्याकरण भी उस परिवर्त्तनको माननेके लिये बाध्य हो जाता है और यही परिवर्त्तित प्रयोग मुहावरा कहलाता है।

भाषाकी अवयुति वाक्य है। ऊपर कहा जा चुका है कि योग्यता, आकांक्षा और आसक्तियुक्त पद-समूह ही वाक्य कहलाता है। किसीने कहा 'मेघो जलं वर्षति'। इस वाक्यमें मेघ, जल और वर्षति शब्दोंके अर्थोंमें अबाध सम्बन्ध है। श्रोता या पाठक इस वाक्यको सुनकर या पढ़कर समझेगा कि आकाशसे जल गिर रहा है। जलका गिरना तथ्य है। वाक्यने इस तथ्यके ज्ञानकी पूर्त्ति की। व्याकरणकी दृष्टिसे यह वाक्य बिलकुल ठीक उतरा।

अब मान लीजिए ग्रीष्म ऋतु है। जोरोंकी गर्मी पड़ रही है। सूर्य तप रहा है। आँखें आकाशकी ओर उठनेमें

असमर्थ हैं। किसीको गर्मीकी तीव्र अनुभूति हुई। इस अनुभूतिको उसकी तीव्रताके अनुसार ही प्रकट करनेके लिये उसने कहा 'आग बरस रही है'। अत्यधिक गर्मीकी सूचना देनेके लिये उसने इस वाक्यका प्रयोग किया। अग्निमें उष्णता और जलानेकी शक्ति होती है। इधर गर्मीकी मात्रा इतनी बढ़ी हुई है कि शरीर जलता सा जान पड़ता है। अतः गर्मीकी अधिकता और अग्निमें एक स्वाभाविक साम्य स्थापित हुआ। अत्यधिक गर्मीकी उत्पत्तिसे पृथ्वीका कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं दिखाई देता वरन् सूर्यही उसका गोचर कारण लक्षित होता है। सूर्य आकाशमें है और पानी भी आकाशसे ही बरसता है। पानीसे बरसना क्रिया लेकर आगके साथ लगाई गई। अतः "आग बरस रही है" इस वाक्यका अर्थ यह न लगाया जायगा कि आगके अङ्गारे अथवा चिनगारियाँ आकाशसे भूमि पर गिराई जा रही हैं। उपर्युक्त वाक्यसे गर्मीकी अधिकता ही व्यञ्जित होगी। अर्थात् वाक्यका अभिधेयार्थ न लेकर लक्ष्यार्थ ही लिया जायगा। अभिधेयार्थका निषेध कर शब्दकी जिस शक्तिसे लक्ष्यार्थ लिया गया उसे लक्षणा* कहते हैं।

इसीका एक और उदाहरण "सिर उड़ाना" भी ले लीजिए। सिर कोई पक्षी, पतङ्ग या पंखवाला पदार्थ नहीं है जो उड़ाया जा सके। वायुमें निराधार संचरणके व्यापारको उड़ना कहते हैं। तलवारके द्वारा कटनेपर सिर उछलकर

---

* मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योर्थः प्रतीयते।
रूढ़ेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ साहित्यदर्पण।

भूमिपर आ गिरता है। सिरके साथ निराधार संचरणके व्यापारका आरोप किया गया अतः सिर उड़ानाका लक्ष्यार्थ हुआ सिर काट देना। यही आलङ्कारिक अनुकरणात्मक आरोप अथवा लक्षणा रूढोक्तियोंका मूल है। कोई भी आलङ्कारिक अनुकरणात्मक आरोपसे युक्त पद सतत प्रयोग द्वारा रूढ हो जानेपर मुहावरा या रूढोक्ति कहलाने लगता है। प्रारम्भमें तो आलङ्कारिक अनुकरणात्मक आरोपोंकी गिनती प्रयोजनवती लक्षणामें होती है और सतत प्रयोग द्वारा कुछ समय बीत जानेपर वही रूढा लक्षणा कहलाती और लोग उसे मुहावरा, रूढोक्ति, व्यवहारोक्ति कहने लगते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि कोई वाक्य या वाक्यांश रूढ हुए बिना रूढोक्ति कहला ही नहीं सकता।

मुहावरा अरबी भाषाका शब्द है। इसकी उत्पत्ति हौर अथवा हरीर शब्दसे बताई जाती है। अरबी भाषामें 'हौर' शब्दका अर्थ गर्म होता है। गर्म शब्दके अभिधेयार्थका निषेध कर यदि उसके लक्ष्यार्थपर विचार करें तो इसका अर्थ होगा अत्यधिक प्रयोगमें आनेवाली वस्तु। 'जैसे बाजार गर्म है' कहनेसे कोई यह न समझेगा कि बाजारमें आग लग गई है या वह तप रहा है। इसका लाक्षणिक पर सीधा-सादा अर्थ यही होगा कि बाजारमें क्रय-विक्रय अधिक होता है। हिन्दी शब्दसागर, फ़रहङ्ग-ए-आसफ़िया और वेब्स्टर डिक्शनरी आदि हिन्दी, उर्दू और अँगरेजीके प्रामाणिक कोषोंमें मुहावरा शब्दके कई अर्थ किए गए हैं पर सबमें पाई जानेवाली जो सामान्य बात है वह है मुहावरेका चिर और निश्चित प्रयोग। सबके विचारोंमें सामान्यतया एकरूपता है और सभीने लक्षणाके ही

लक्षणको किसी न किसी रूपमें स्वीकार किया है। परन्तु रूढोक्तिका एक प्रचलित अर्थ अभ्यास भी है। यदि इस अर्थको भी दृष्टिमें रखकर विचार करें तो रूढोक्तिकी एक कामचलाऊ परिभाषा निर्धारित करनेमें सहायता मिल सकती है और वह परिभाषा इस प्रकारकी होगी कि भाषामें सतत अभ्यास-द्वारा संस्कृत, सर्वसम्मत तथा रूढ आलंकारिक अनुकरणात्मक आरोपसे युक्त चामत्कारिक प्रयोगको मुहावरा या रूढोक्ति कहते हैं।

रूढोक्तियोंकी उत्पत्तिमें ग्रामों और ग्रामीण जनताका महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। अधिकांश रूढोक्तियाँ हमारी अपढ़ और अशिक्षित जनता-द्वारा उत्पन्न किए गए हैं। प्रकृतिके सहज, सुन्दर और चिर परिचित स्वरूपों, उपकरणों तथा व्यापारोंका अन्य स्थलोंपर आरोप करके उन्होंने उसे रूढ रूप दिया। विद्वानों-द्वारा वे ही रूढ प्रयोग कट-छँट, सँवर और सुधर कर भाषाको सजानेवाले अनमोल आभूषण बन गए।

जिस प्रकार अशिक्षित समाजने शब्द-रचना की है उसी प्रकार शब्द-समुदायकी रचना भी। हमारे सुन्दर और सजीव शब्दोंके समान हमारी सर्वोत्तम रूढोक्तियाँ भी बैठकखानों अथवा पुस्तकालयोंमें न उत्पन्न होकर रसोईघर और खेत-खलिहान आदि स्थानोंमें उत्पन्न हुए हैं। किसान, शिल्पी, अशिक्षित स्त्रियाँ तथा समाजकी नीची श्रेणीके अज्ञजन अपने भाव प्रकट करनेके लिये कभी-कभी ठेठ घरेलू शब्दोंका प्रयोग कर बैठते हैं। ये प्रयोग इतने चुस्त, शब्द-लाघवता युक्त और सामान्य भाव-भूमिके इतने समीप पहुँचे

हुए होते हैं कि आगे चलकर इनकी गणना सरलतापूर्वक रूढोक्तियोंमें हो जाती है।

बहुतसे असम्बद्ध वाक्य और वाक्यांश भी रूढोक्तियोंके समान प्रयुक्त होते हैं। ये क्यों और कैसे उत्पन्न हुए और रूढोक्तियोंमें इनकी गणना क्यों होने लगी इसका निश्चित कारण निर्दिष्ट करना तो बड़ा ही कठिन है। सम्भवतः ये इस बातके परिचायक हैं कि मानव मस्तिष्कमें निष्फल तथा असम्बद्ध बातोंके लिये भी कुछ स्थान रहता है और मनुष्य इन उच्छृङ्खल और असङ्गत प्रयोगोंको इतना प्यार करता है कि तर्क या व्याकरणके बन्धनकी कोई चिन्ता न करके इन्हें अपनी नित्यप्रतिकी बोलचालमें स्थान दे देता है। नियोगम-शून्यं कुरु, तथा अलं स्नेहेन आदि ऐसे ही मुहावरे हैं।

रूढोक्ति सिखानेकी सबसे सरल, स्वाभाविक और व्यावहारिक पद्धति तो यह है कि विद्यार्थीके हाथमें ऐसी पोथियाँ दे दी जायँ जिनमें रूढोक्तियोंका प्रचुर प्रयोग हुआ हो। इसके साथ ही पाठ्य पुस्तकमें जहाँ रूढोक्ति आवे वहाँ विद्यार्थीको उसका अर्थ बतलाते हुए तत्सबन्धी अन्य रूढो-क्तियोंका भी उसे परिचय करा दिया जाय। यदि आँखसे संबन्ध रखनेवाली कोई रूढोक्ति आवे तो वहींपर आँखसे संबन्ध रखनेवाले दूसरे मुहावरोंका भी परिचय करा देना आवश्यक है। पाठ्य पुस्तकोंमें अवस्थाक्रमसे विद्या-र्थियोंके लाभार्थ घरेलू और आङ्गिक रूढोक्तियोंसे प्रारम्भ करते हुए जीवनके अन्य विविध क्षेत्रोंसे संबद्ध मुहावरोंका धीरे-धीरे ज्ञान करा देना चाहिए।

इसके पश्चात् अन्य भाषाकी रूढोक्तियोंका भी अपनी भाषामें किस प्रकार अनुवाद किया जाय इसकी शिक्षा भी

आवश्यक है। इस सम्बन्धमें प्रोफ़ेसर आज़ादका यह कहना कि "एक ज़ुबानके मुहावरेका दूसरी ज़ुबानमें तरजुमा करना जायज़ नहीं" पूर्णतः ठीक नहीं जान पड़ता है क्योंकि परस्पर संबन्धमें आनेपर विभिन्न भाषाओंका एक दूसरेपर प्रभाव पड़ना और परस्पर रूढोक्तियोंका आदानप्रदान होना स्वाभाविक ही है। विचारणीय बात तो केवल यह है कि इनका शब्दानुवाद न करके भावानुवाद ही करना अच्छा होता है। दूसरी भाषाकी रूढोक्तिका अनुवाद अपनी भाषामें करते समय इसका प्रयत्न करना चाहिए कि जहाँतक हो सके अन्य भाषाकी रूढोक्तिके अर्थकी द्योतिका जो रूढोक्ति अपने यहाँ हो उसीका प्रयोग किया जाय।

अतः रूढोक्तियोंकी शिक्षा देते समय उसके उचित तथा शुद्ध प्रयोगका सदा ध्यान रखना चाहिए और यथासंभव अधिकसे अधिक रूढोक्तियोंका प्रयोग सिखाना चाहिए, क्योंकि इनसे भाषामें चिकनाई और गति आती है।

---

१२

# पाठ्य-पुस्तक

हमारे यहाँ प्राचीन कालमें लोग सब बातें कण्ठस्थ कर लिया करते थे। मौखिक शिक्षाकी ही परम्परा बँधी हुई थी। इस परम्परामें सारी बातें गुरु-मुखसे सुनकर कण्ठस्थ कर ली जाती थीं। यह कहा जाता था—

पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ।
न शोभते सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियः॥

सुन-सुनकर स्मरण किए जानेके कारण ही हमारे वेद आज भी श्रुति कहलाते हैं। परन्तु अब वह अवस्था बदल गई है। आज हमारी शिक्षा-रूपी विशाल अट्टालिकाके ईंट-पत्थर पुस्तक ही हैं। कुशल कारीगरके समान अध्यापक उन्हीं पुस्तकोंके मसालेसे अपने शिष्योंके लिये शिक्षा-रूपी सदनका निर्माण करता है।

इन दिनों हमारी शिक्षाकी व्यवस्थामें पुस्तकोंके समुचित चुनावका विशेष महत्त्व है। हमारे देशमें आजका अध्यापक चारों ओरसे जकड़ा हुआ है। उसे अपनी प्रतिभाका, अपनी कुशलताका परिचय देनेका अवकाश ही नहीं है। उसे शिक्षाविभाग-द्वारा निश्चित पाठ्यक्रम और पाठ्य-पुस्तकोंकी सीमामें ही वन्दी रहना पड़ता है। प्राचीन कालमें शिक्षाका क्रम, पाठ्यक्रम सब गुरु या अध्यापक ही निर्धारित करते थे। क्योंकि उस समय शिक्षापर राज-शासन नहीं था। आज अध्यापक परवश है, उसे वे ग्रन्थ

पढ़ाने पड़ते हैं जिनके निर्धारणमें उससे सम्मति नहीं ली जाती।

१. पाठ्य पुस्तकोंकी सामग्री मनोरञ्जक, सुरुचिपूर्ण, ज्ञान बढ़ानेवाली तथा विद्यार्थियोंकी रचनात्मिका बुद्धिको उत्तेजित करने वाली हो।
२. कोरे उपदेश न हों, जो हों वे कथाके अथवा काव्यके आवरणसे ढके हों।

ऊपर दिए हुए नियमोंसे ही पाठ्य-पुस्तकोंकी जाँच करनी चाहिए। पाठ्य-पुस्तक पढ़कर विचार करना चाहिए कि उसकी सामग्री सरल, मनोरञ्जक और चरित्र-निर्माणमें सहायता देनेवाली है या नहीं, इसीके साथ-साथ कहीं उसमें कोरी उपदेशात्मक बातें तो नहीं कही गई हैं। यदि पुस्तक सरल न हुई तो बालकका मन उसमें नहीं लगेगा। मन न लगने-पर उसकी मनोरञ्जकता स्वयं नष्ट हो जायगी। पुस्तकमें यदि मनोरञ्जकता नहीं है तो चरित्र-निर्माणमें सहायता देनेवाली सामग्री रहते हुए भी वह पढ़नेवालोंको भार-स्वरूप प्रतीत होगी और उसकी अच्छाइयोंका कोई प्रभाव विद्यार्थीपर न पड़ सकेगा। इसके अतिरिक्त यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि कोरी उपदेशात्मक बातें प्रायः चिढ़ पैदा करती हैं। कभी-कभी उनसे प्रतिक्रियात्मक भावनाओंको भी उत्तेजन मिल जाता है जिसका परिणाम सदैव वाञ्छनीय नहीं होता। अतः पाठ्य-पुस्तकोंकी सामग्री सरल, मनोरञ्जक, ज्ञानवर्द्धक और चरित्र-निर्माणमें सहायक होनी चाहिए।

पाठ्य-पुस्तकोंका चुनाव करते समय उसपर भाषाकी दृष्टिसे भी विचार करना आवश्यक है। पाठ्य-पुस्तकोंमें

यह आवश्यक है कि उनमें भाषा-सम्बन्धी विविध शैलियोँ-का प्रयोग किया गया हो। शेली ही लेखकके व्यक्तित्वकी परिचायिका होती है। विविध शैलियोँका परिचय विद्यार्थियोंके ज्ञान-क्षितिजको उदार बनाता है और इन्हींके आधारपर बालक अपनी लेखनशैली चुन लेता है। प्रारंभिक पुस्तकोंकी भाषा इतनी सरल होनी चाहिए कि अपनी मातृ-भाषाके आधारपर वह संस्कृतकी पुस्तक स्वयं समझता चले, जैसे—

गृहे

दासी, उलूखलम्, मुसलम्, धान्यम्, खट्वा, विस्तरः, शिशुः, घटः, जलम्, दीपः, उपानत्, छत्रम्, नागदन्तः, आलयः, कोणः।

दासी उलूखले मुसलेन धान्यम् कुट्टति। खट्वायाम्

विस्तरः वर्त्तते। तत्र शिशुः शेते। कोणे घटः अस्ति। घटे जलं वर्त्तते। बालकः तत्र गत्वा जलं पिबति। नागदन्ते धौतवस्त्रं रक्षितम् अस्ति। आलये दीपः अस्ति। पिता आज्ञापयति—हे बालिके! मम छत्रम् उपानहौ च शीघ्रम् आनय। अहं बहिः गच्छामि।

प्रश्नाः—दासी किं करोति। खट्वायां किम् अस्ति। शिशुः किं करोति। घटः कुत्र अस्ति। जलं कुत्र वर्त्तते। बालकः कुत्र गत्वा जलं पिबति। धौतवस्त्रं कुत्र रक्षितम् अस्ति। दीपः कुत्र अस्ति। पिता किं वदति। सः कुत्र गच्छति।

[श्री पं० यज्ञनारायण उपाध्यायजी द्वारा संपादित 'संस्कृत सुबोधिनी' प्रथम भाग से सधन्यवाद उद्धृत।]

पाठ्य-पुस्तकोंके चुनावमें बालकोंकी मानसिक अवस्था-को अवश्य दृष्टिमें रखना चाहिए। इसमें यह विचार करना आवश्यक है कि हम विद्यार्थीके लिये जिस पाठ्य-पुस्तककी व्यवस्था करने जा रहे हैं उसकी सामग्रीमें ऐसी कौन-कौन सी बातें सम्मिलित हैं जिनका विद्यार्थीपर अवस्था-विशेषके अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। अर्थात् विद्यार्थीकी मानसिक अवस्थापर विचार करते हुए यह निर्णय करना चाहिए कि अवस्था-विशेषमें उसे कैसी बातें रुचिकर हैं, वर्णनकी कौन सी शैली उसे मुग्ध करती है। विद्यार्थीका मस्तिष्क ज्यों-ज्यों विकासोन्मुख होता जाय त्यों-त्यों उसकी अवस्थाके अनुकूल पाठ्य-पुस्तकोंमें भी परिवर्त्तन होना चाहिए। विषय ऐसा हो कि उसे पढ़ाना न पड़े। अध्यापकका यह काम नहीं है कि वह एक-एक शब्दका अर्थ बतावे और एक एक वाक्य-की व्याख्या करे। उसे तो केवल मन्त्रणा और सङ्केत-द्वारा विद्यार्थीकी सहायता करनी चाहिए। जो नई शैली हो

उसकी विशेषता और जो नई बात हो उसका विवरण देना चाहिए।

पाठ्य-पुस्तक कोरे उपदेशोंका संग्रह न हो। पाठ्य-पुस्तकका उद्देश्य न तो धर्म-शिक्षा देना है न विज्ञान-शिक्षा। उसका उद्देश्य भाषा तथा ज्ञानका विकास करना ही है। ज्ञानकी बड़ीसे बड़ी बातें भी कथात्मक ढङ्गसे इस प्रकार कही जा सकती हैं कि बालक स्वयं उसमेंसे नीति निकाल ले। यह सिद्धान्त नवीन शिक्षा-शास्त्रियोंका ही नहीं है। पाटलिपुत्रके सुदर्शन नामक राजाके पुत्रोंके लिये प्राचीन भारतीय शिक्षा-शास्त्री विष्णुशर्माने भी यही नीति बरती थी। उन्होंने कथाके द्वारा ही सम्पूर्ण नीति सिखला दी थी। "कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते"। पाठ्य-पुस्तकोंमें वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा नैतिक उपदेश भी कथात्मक ढंगसे ही देने चाहिएँ। इसीलिये अनेक पंडितोंका यह मत ठीक है कि छात्रको प्रारम्भमें साधारण बोलचाल संस्कृतमें सिखाकर पंचतन्त्र या हितोपदेश प्रारम्भ कर देना चाहिए।

विद्यार्थियोंकी प्रारम्भिक अवस्थामें उनके लिये जिस पाठ्य-पुस्तककी व्यवस्था की जाय उसका गद्य-भाग अत्यन्त सरल होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य छोटा और सरल हो। उनमें ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया जाय जिनसे विद्यार्थी प्रायः परिचित हों। वर्णित विषयमें सरल कहानियाँ हों। तत्पश्चात् क्रमशः दृश्य, वस्तु, घटना आदिका सरल भाषामें सरल वर्णन हो और जीवनपयोगी वस्तुओंका ज्ञान करने-वाले उपकरण भी हों। सरल विषयोंपर विवरणात्मक निबन्ध, छोटी-छोटी सुन्दर कहानियाँ, संवाद और छोटे

नाटकोंका प्रवेश भी पाठ्य-पुस्तकोंमें कराया जा सकता है। इस प्रकार शिक्षाकी अन्तिम अवस्थामें विविध शैलियोंके परिचायक उच्च कोटिके निबन्धों एवं अन्य साहित्यिक, दार्शनिक तथा शास्त्रीय रचनाओंके सन्निवेशसे पाठ्य-पुस्तकें व्यवहारतः उपयोगी बनाई जा सकती हैं। पाठ्य-पुस्तकोंमें पद्य रखनेका मुख्य उद्देश्य कवियोंसे अथवा पद्योंसे परिचय कराना नहीं है। उसका उद्देश्य यह है कि बालकोंमें काव्यकी ओर रुचि हो, वे चावसे सूक्तियोंको कण्ठस्थ करें, उनका प्रयोग करें तथा स्वयं कविताकी रचना करें।

पाठ्य-पुस्तकोंमें गद्यकी अपेक्षा पद्यका चुनाव अधिक कठिन है। पद्यके दो भेद हैं। एक कोरा पद्य अर्थात् तुकबन्दी जिसमें बिखरे हुए गद्य-खण्ड छन्दोंके साँचेमें ढाल दिए जाते हैं।

राज्याभिषेके मदविह्वलायाः हस्तच्युतो हेमघटो युवत्याः।
सोपानमार्गेषु करोति शब्दं टटंटटंटंटटटंटटंटः॥

अथवा—

जम्बूफलानि पक्वानि पतन्ति विमले जले।
कपिकम्पितशाखाभ्यो गुलुगुग्गुलुगुग्गुलु।

से लेकर—

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां।
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहां।
बहो दृष्टं कालात्परमिव च मन्ये वनमिदं।
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति।

—जैसी सभी रचनाएँ पद्यके ही अन्तर्गत आती हैं। ऐसी रचनाएँ प्रारम्भिक अवस्थावाले विद्यार्थियोंके कामकी हो सकती हैं। परन्तु पाठ्य-पुस्तकोंकी सहायतासे हमारा

उद्देश्य कोरा पद्य पढ़ना नहीं होता, हमारा प्रधान लक्ष्य तो कविताके प्रति विद्यार्थीकी रुचि उत्पन्न करना ही रहता है। कविता मानव-जीवनकी सारी कोमलता और मधुरताकी प्रतीक है। शेष जगत्‌के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्धकी रक्षा और निर्वाह करना ही कविताका मुख्य उद्देश्य है। यही कविताकी परिभाषा है। तात्पर्य्य यह है कि कविताका अध्ययन भी हमारी शिक्षाका एक प्रधान अङ्ग है।

पाठ्य-पुस्तकोंमें रखने योग्य कविताओंका चुनाव करते समय हमें कवि, कविके उद्देश्य और उसकी भाषापर विचार करना पड़ता है। हमें यह देखना पड़ता है कि किस कविकी कौनसी रचना किस श्रेणीके विद्यार्थीके अनुकूल या प्रतिकूल है।

इसी स्थलपर शिक्षा-सम्बन्धी इस सिद्धान्तका भी उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि पाठ्य-पुस्तकोंमें ऐसी किसी बातको कभी स्थान न देना चाहिए जो किसी प्रकार-की वासनात्मक भावनाको उत्तेजना दे या उसका स्मरण भी दिलावे, इसलिये पंचतन्त्र या हितोपदेशमें से ऐसी सब कथाएँ तथा वे सब श्लोक निकाल देने चाहिएँ जो अश्लील अथवा वासनाको उत्तेजित करनेवाले हों। इसके सर्वथा विपरीत पाठ्य-पुस्तकोंमें ऐसी कविताओंका संग्रह होना चाहिए जिनसे बालकोंकी उदात्त वृत्तियाँ जागरित हों, उनमें सुन्दर भावनाओंका रोपण और विकास हो।

इस सम्बन्धमें दूसरा विचार भाषा-सम्बन्धी है। हम ऊपर कह चुके हैं कि इन पुस्तकोंमें सरल वाक्योंसे भाषा आरम्भ होकर गुम्फित वाक्योंकी ओर जानी चाहिए। उसी प्रकार कवितामें भी अभिधा वृत्तिसे उठकर व्यंग्य-

काव्यकी ओर उन्मुख होना ही उचित तथा श्रेयस्कर है।

इसलिये पाठ्य-पुस्तकोंमें संगृहीत कविताएँ ऐसी होनी चाहिएँ जिनका अर्थ समझते ही विद्यार्थी उसे कण्ठस्थ करनेके लिये लालायित हो उठे। इस दृष्टिसे नीतिके ऐसे श्लोकोंका संग्रह इसमें बड़ी सरलतासे दिया जा सकता है जो चरित्र-निर्माणमें सहायता देनेके साथ-साथ व्यवहार-पटुता भी सिखाते हों।

विद्यार्थियोंके लिये ऐसी सूक्तियोंका संग्रह आवश्यक है जैसेः—

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः॥

इसीके साथ कुछ वीरतापूर्ण ऐतिहासिक पद्योंका संग्रह भी विद्यार्थियोंको अधिक लाभ पहुँचा सकता है। फिरसे यह स्मरण रखना चाहिए कि इनमें भी कोई शब्द, वाक्य अथवा भाव ऐसा न हो जिससे किसी भी प्रकारकी वासना अथवा काम-विषयक वस्तु अथवा भावका स्मरण हो। ऐसी बातें बहुत समझ-बूझकर बचानी चाहिएँ चाहे उनके हटानेसे अच्छे कवि अथवा लेखककी रचनासे हाथ ही क्यों न धोना पड़े।

पाठ्य-पुस्तकोंमें इस बातका भी ध्यान रक्खा जाना चाहिए कि उसमें दिए हुए पाठोंसे व्युत्पत्ति-ज्ञान अर्थात् अनेक जीवनोपयोगी विषयोंका भी ज्ञान होता चले।

---

१२

# शिक्षा-शास्त्रके कुछ सिद्धान्त और उनकी व्याख्या

आचार्यको शिक्षा देनेका विचार करनेसे पूर्व शिक्षा-शास्त्रके कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तोंका परिचय प्राप्त करना भी आवश्यक है क्योंकि उन्हीं सिद्धान्तोंके बलपर ही नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ, पाठन-विधियाँ तथा शिक्षण-क्रमोंकी उत्पत्ति हुई है। किन्तु इन सिद्धान्तोंकी व्याख्या करनेसे पूर्व यह भी उचित है कि हम उन सिद्धान्तोंकी सर्वमान्यता-का कारण भी दे दें और उनके मनोवैज्ञानिक आधारकी भी व्याख्या कर दें, क्योंकि उनके कारण डाल्टन-प्रणाली, प्रयोग-प्रणाली ( प्रोजेक्ट मेथड ), बालोद्यान प्रणाली ( किण्डरगार्टन ) आदि अनेक शिक्षा-योजनाओंका जन्म हुआ है जिनका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे।

बालक कुछ माता-पिता तथा कुल-परम्पराके संस्कार लेकर उत्पन्न होता है। जिस प्रकारके वातावरण तथा जैसी संगतिमें उसका लालन-पालन होता है वैसे ही उसके आचरण बनते हैं। वह जैसे औरोंको चलते-फिरते, उठते-बैठते, बोलते-चालते, खाते-पीते, नहाते-धोते, सोते-लेटते, ओढ़ते-पहनते, हँसते-रोते, कूदते-फाँदते तथा पढ़ते-लिखते देखता है वैसे ही वह भी आचरण करने लगता है। अनु-करण हमारी शिक्षाका मूलाधार है। बालकमें उत्साह छलका पड़ता है। उसके हाथ-पैर कुछ करनेको व्याकुल

रहते हैं। वे कोई ऐसा काम करना चाहते हैं जिसमें उनकी रुचि हो। जिसमें रुचि होगी उसीमें उनका मन लगेगा, जिसमें मन लगेगा उसीका ज्ञान बालकके मस्तिष्कमें दृढ़ होकर बैठेगा तथा जो कुछ उसके मस्तिष्कमें बैठेगा उसीके अनुकूल बालकका स्वभाव बनेगा, उसकी प्रवृत्ति सधेगी और उसका ज्ञान बढ़ेगा। ज्यों-ज्यों वह अपना ज्ञान संचित करता जाता है त्यों-त्यों इसी संचित ज्ञानके आधारपर वह नया ज्ञान बढ़ाता चलता है। अतः बालककी रुचि ही सबसे प्रधान वस्तु हुई। अनुभवसे जाना गया है कि बालकों-को रंगोंसे, रंगीली वस्तुओंसे बड़ा प्रेम होता है। उन्हें सुन्दर वस्तुएँ भाती हैं और ऐसी बातोंमें रुचि होती है जिसमें उन्हें कूदने-फाँदने और चिल्लानेका अवसर मिले। संगीतसे उन्हें स्वाभाविक प्रेम होता है। गतिशील कार्यों-में उनकी रुचि होती है। वे जादूगर, बाजीगर, नट आदि-के करतब बड़े चावसे देखते हैं। उन्हें अचरज-भरे करतबों-में अधिक कुतूहल होता है। इसीलिये वे कहानियाँ बड़े चावसे सुनते हैं, उन्हें मेले-तमाशे अच्छे लगते हैं। वहाँ उन्हें खाने-पीनेकी वस्तुएँ, खेल-खिलौने, चरखी-घुमनी सभी रुचिकर वस्तुएँ मिल जाती हैं। बालकोंको दबकर, परतन्त्रतामें रहना अच्छा नहीं लगता। उन्हें स्वतन्त्रता चाहिए। रटनेमें उनकी बिलकुल रुचि नहीं। अतः शिक्षा-शास्त्रियोंने पुरानी डंडा-प्रणाली छोड़ी, बालकोंका मन समझा और शिक्षा-प्रणालीमें बालकोंके लिये रुचिकर वस्तुओं तथा क्रियाओंका समावेश करके उन्हें यथासंभव स्वतन्त्र रूपसे विकसित होने की सुविधा दे दी।

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक विवेचन करनेके पश्चात् अब हम

शिक्षा-प्रणालीके दो विरोधी महत्त्वपूर्ण विधानोंपर विचार करते हैं। हम दो प्रकारसे शिक्षा दे सकते हैं (१) विश्लेषण-प्रणालीसे तथा (२) संश्लेषण-प्रणालीसे। इन्हीं दोनोंको हम विषय-भेदसे क्रमशः (१) परिणाम-प्रणाली तथा (२) सिद्धान्त-प्रणाली भी कहते हैं।

१—विश्लेषण-प्रणालीमें पूर्ण वस्तुको लेकर पाठ प्रारम्भ करते हैं और फिर उसके विभिन्न तत्त्वों तथा भागोंका अध्ययन और विवेचन करते हैं। यदि हमें इस प्रणालीसे भूगोल पढ़ाना हो तो पहले हम पृथ्वीसे प्रारम्भ करेंगे और जलवायुके अनुसार पृथ्वीका विभाजन कर देंगे और इन खंडोंके मानव, पशु तथा वनस्पति-जीवनका पूरा ब्यौरा दे देंगे। इस प्रकार हमने पूरी पृथ्वीका विश्लेषण कर डाला और विश्लेषण-प्रणालीसे भूगोलकी शिक्षा दी।

भाषा-शिक्षामें ही लीजिए। यदि हमें रामायण पढ़ाना हो तो इस प्रणालीके अनुसार पहले हम समूची कथा कहेंगे, उसके मुख्य चरित्रोंका अध्ययन करेंगे। भाषाकी विशेषताएँ देखेंगे और तब एक-एक कांडका अलग अलग अध्ययन करेंगे। इस प्रणालीका प्रयोग हम वहाँ करते हैं जहाँ कोई ऐसा विषय पढ़ाना हो जिसके खंड किए जा सकें या जो भागोंमें विभाजित किया जा सके अर्थात् सभी भौतिक विषयोंके शिक्षणमें इस प्रणालीका प्रयोग किया सकता है।

जैसे विश्लेषण-प्रणालीमें पूर्ण वस्तुसे प्रारम्भ करते हैं वैसे ही सिद्धान्त-प्रणालीमें सिद्धान्त या नियम बता देते हैं और फिर विद्यार्थी उन नियमोंकी व्यापकताको अपने अनुभव तथा अन्य पाठ्य सामग्रीके आधारपर सिद्ध करता है। एक व्याकरणका नियम लीजिए—'संज्ञा विशेषण वह

शब्द है जो किसी संज्ञा-शब्दकी विशेषता बताता हो।' इस व्याकरणके नियमको विद्यार्थी रट लेता है और फिर 'भला बालक, सुन्दर सुमन, मनोहर वेश, भव्य भवन, आकर्षक रूप, पावन चरित्र' इत्यादि उदाहरणों द्वारा वह उपर्युक्त नियमका प्रयोग समझ लेता है कि 'भला, सुन्दर, मनोहर, भव्य, आकर्षक तथा पावन' शब्द संज्ञा-विशेषण हैं क्योंकि ये क्रमशः 'बालक, सुमन, वेश, भवन, रूप तथा चरित्र' शब्दोंकी विशेषता बताते हैं। इस प्रणालीका प्रयोग वहाँ होता है जहाँ हमें सिद्धान्तों या नियमोंसे काम पड़ता है जैसे व्याकरणकी शिक्षामें।

२—संश्लेषण-प्रणालीमें हम तत्त्वों अथवा भागोंसे प्रारम्भ करके पूर्णकी ओर बढ़ते हैं। जैसे, अक्षर-रचनाकी शिक्षा देते समय पहले खड़ी, पड़ी, आड़ी, तथा गोल रेखाएँ सिखाई जायँ और इनका अभ्यास कराकर इन्हें मिलाकर 'अ' का स्वरूप सिखाया जाय। इस प्रणालीका प्रयोग उन विषयोंकी शिक्षाके लिये किया जाता है जिनके अंगोंका विभाजन किया जा सके।

जिस प्रकार संश्लेषण-प्रणालीमें भागोंसे प्रारंभ करके फिर पूर्ण वस्तुकी शिक्षा दी जाती है उसी प्रकार परिणाम-प्रणालीमें उदाहरणों तथा अनुभूत प्रयोगोंसे आरंभ करते हैं और उसके आधारपर एक व्यापक नियम निकलवा लेते हैं। व्याकरण-शिक्षामें हम सीधे नियम न बतलावें वरन् बालकोंके सम्मुख यह उदाहरण रक्खें—

अयोध्यातः रामः रथमारुह्य गतवान्।

इस वाक्यमें राम एक व्यक्ति-विशेषका नाम है, अयोध्या एक स्थान विशेषका नाम है, रथ एक वस्तु-विशेषका नाम

है। ये सब संज्ञाएँ हैं। अतः यह नियम निकला कि किसी व्यक्ति, स्थान या वस्तुके नामवाची शब्दको संज्ञा कहते हैं। सुध्युपास्यः, दध्यानय, आदि अनेक उदाहरण पहले देकर फिर छात्रोंसे ही ध्यु और ध्याके रूपोंका विश्लेषण कराकर 'इको यणचि' सूत्र सिद्ध कराया जाय। इस प्रणालीका प्रयोग सार्वभौम सिद्धान्तों या व्यापक नियमोंकी शिक्षाके लिये भी होता है, जैसे 'यत्र धूमस्तत्राग्निः।' इसे सिद्ध करनेके पहले कई ऐसे स्थल दिखाए जायँ जहाँ धुआँ निकल रहा हो और उन सब प्रमाणोंके आधारपर छात्रोंसे स्वयं यह परिणाम निकलवाया जाय कि 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः।'

मनोवैज्ञानिक विवेचनकी दृष्टिसे विश्लेषण तथा परिणाम-प्रणालीको ग्रहण करना चाहिए और संश्लेषण तथा सिद्धान्त प्रणालीका त्याग करना चाहिए। आचार्यका यह कर्त्तव्य है कि वह विद्यार्थीका ज्ञान अपने प्रभावसे नहीं वरन् ऐसी विधिसे बढ़ावे कि बालक अपनी रुचि, कुतूहल, उत्साह तथा स्फूर्त्तिसे उसे ग्रहण करनेकी आकांक्षा करे। अतः अध्यापकको पाठ-ज्ञान कराते समय निम्नलिखित क्रमसे चलना चाहिए—

१. बालकके प्रस्तुत ज्ञानको परखो।
२. पठन, प्रयोग तथा अनुभवके द्वारा इस ज्ञानको उचित रूपसे फैलनेका अवकाश दो।
३. इस अर्जित ज्ञानको क्रमशः नियमित और व्यवस्थित करो।

उपर्युक्त क्रमके आधारपर ही शिक्षा शास्त्रियोंने ये सिद्धान्त-सूत्र बना लिए हैं—

१. व्यक्तिगत अनुभवसे व्यापक अनुभवकी ओर चलो।

२. प्रकटसे अप्रकटकी ओर चलो।
३. उदाहरणसे नियमकी ओर चलो।
४. ज्ञातसे अज्ञातकी ओर चलो।
५. साधारणसे असाधारणकी ओर चलो।
६. अनिश्चितसे निश्चितकी ओर चलो।
७. अनुभूतसे युक्तियुक्तकी ओर चलो।

१. व्यक्तिगत अनुभवसे व्यापक अनुभवकी ओर— हमारे व्यक्तिगत अनुभवका आधार हमारी इन्द्रियाँ हैं। बालक एक वस्तु देखता है, स्पर्श करता है, काममें लाता है, चखता है, सूँघता है या उसकी ध्वनि सुनता है और इस प्रकार उस वस्तुके विषयमें उसके मनमें अनेक भाव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकारकी शिक्षा-विधिको अनुभव-विधि कहते हैं। बालोद्यान (किण्डेरगार्टेन) प्रणालीमें इसीकी प्रधानता है। किन्तु यह विधि यहीं समाप्त न करके कुछ और आगे बढ़ाकर अन्य पाठ्य-विषयोंकी शिक्षामें भी प्रयुक्त करनी चाहिए। रबड़की गेंदको बालक दीवारपर मारता है। वह गद्दा खाकर उलटी लौट आती है। वह गेंदको पृथ्वीपर पटकता है तब भी वह गद्दा खाकर ऊपर उछल आती है। किन्तु जब वह पानीके कंडालमें फेंकता है तो वह ऊपर नहीं उठती, धुनी हुई रूईपर पटकता है तो नहीं उछलती, घासके ढेरपर मारता है तो वह नहीं लौटती। इस व्यक्तिगत अनुभवसे वह यह व्यापक परिणाम निकालता है कि रबड़की गेंद ठोस वस्तुओंपर पटकनेसे गद्दा खाती है।

२. प्रकटसे अप्रकटकी ओर— यह कोई नया सिद्धान्त

नहीं है। उपर्युक्त सिद्धान्तका ही दूसरा रूप है। एक उदाहरण लीजिए। दो बाँस और तीन बाँस मिलकर पाँच बाँस होते हैं, दो वस्त्र और तीन वस्त्र मिलकर पाँच वस्त्र होते हैं। बालक यह देखता है कि प्रकट दो वस्तुएँ प्रकट तीन वस्तुओं-के साथ मिलकर पाँच वस्तुएँ हो जाती हैं। इन प्रकट उदाहरणोंसे वह यह अप्रकट नियम निकाल लेता है कि दो और तीन मिलकर पाँच होते हैं।

३. उदाहरणसे नियमकी ओर— यह सिद्धान्त भी उपर्युक्त दो सिद्धान्तोंके ही अन्तर्भुक्त है। नियम बतानेसे पहले उदाहरण देने चाहिएँ अर्थात् कई उदाहरण प्रस्तुत करके विद्यार्थियोंसे ही व्यापक नियम निकलवाना चाहिए। उदाहरण लीजिए—

१. कुक्कुरः बुक्कति।
२. पक्षी कूजति।
३. गौः रम्भते।

ऊपर दिए हुए वाक्योंमें से एक-एकको लेकर भौंकने, चहकने तथा रँभानेवालोंका ज्ञान प्रश्नों-द्वारा कराकर यह नियम निकलवाया जा सकता है कि कुत्ता, चिड़िया और गाय तीनों संज्ञा शब्द कुछ कार्य्य करनेका संकेत देते हैं अतः ऐसे शब्द कर्त्ता कहलाते हैं॥

४. ज्ञातसे अज्ञातकी ओर— बच्चोंका ज्ञान धुँधला, अधूरा तथा अक्रम होता है। अतः अध्यापकको यह जान लेना चाहिए कि प्रस्तुत विषयका बालकोंको कितना ज्ञान है। इसके पश्चात् युक्ति तथा तर्क-द्वारा अज्ञात सत्यको ज्ञात कराया जा सकता है। बच्चोंने देखा है कि पतीलीका ढक्कन दाल पकते समय हिलता है और ऊपर-नीचे होता है। उसीके

आधारपर बताया जा सकता है कि प्रबल भापके सहारे रेलका अंजन चलता है।

५. साधारणसे असाधारणकी ओर— बच्चोंके नित्य-प्रतिके जीवनके अनुभवोंसे प्रारम्भ करके ऐसे तथ्यतक पहुँचाना जो असाधारण हो। संस्कृतके पण्डितों, विशेषतः नैयायिकोंके घट-पट इसके उदाहरण हैं। बालक यह जानता है कि घड़ेको कुम्हारने बनाया है, कपड़ेको जुलाहेने बनाया है। इसीके आधारपर उसे यह असाधारण तथ्य बताया जा सकता है कि इस संसारको भी किसीने बनाया है।

६. अनिश्चितसे निश्चितकी ओर—बच्चा अपने कुत्तेको एक खेलकी सामग्री मात्र समझता है। अनेक प्रकारके प्रयोगों, कथाओं तथा उदाहरणोंके द्वारा अध्यापक उस कुत्तेके स्वभाव, उसकी शक्ति, उसकी आवश्यकता इत्यादिके विषयमें ज्ञान देकर कुत्तेके विषयमें बालकके अनिश्चित ज्ञानको पक्का कर देता है।

७. अनुभूतसे युक्तियुक्तकी ओर—अनुभूत ज्ञान वह है जो हमारे अनुभवके फलस्वरूप हमें प्राप्त हुआ है। युक्ति-युक्त वह है जो युक्तिसंगत हो अर्थात् हमारे अनुभूत ज्ञानके वैज्ञानिक विवेचन द्वारा सिद्ध हो गया हो। बालक देखता है कि पत्ते नीचे गिरते हैं, फल नीचे गिरते हैं। प्रत्येक वस्तु नीचे ही गिरती है किन्तु वह गिरनेका कारण नहीं बता सकता। गुरुत्वाकर्षणका सिद्धान्त जान लेनेपर वह प्रत्येक वस्तुके नीचे गिरनेका कारण भी बता सकता है। अब उसका अनुभव युक्तियुक्त हो गया।

उपर्युक्त सिद्धान्त-सूत्रोंका मूल तत्त्व यह है कि बालकके प्रस्तुत ज्ञान तथा उसके मानसिक विकासके अनुसार

उसको नया ज्ञान दिया जाय। उसके अनुभवोंका पूर्ण उपयोग करके उसीको नवीन ज्ञान देनेकी आधार-भूमि बनाई जाय। बालकके मनके अनुकूल अध्यापक चले, अपने मनके अनुकूल नहीं।

उपर्युक्त सिद्धान्तोंमें एक और भी ध्वनि है जिसका स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए। जब हमारे हाथमें पाठ्य-पुस्तक आती है। तो हम पहले पाठसे आरम्भ करते हैं और क्रमशः पढ़ाने लगते हैं। हम पीछे कह चुके हैं कि पाठ्य-पुस्तक-निर्धारित करनेवाले विद्वानोंको अधिक मनोवैज्ञानिक विचार करनेका कम अवसर रहता है इसलिये उनके संकलित पाठोंमें कोई मनोवैज्ञानिक क्रम नहीं रहता। इसलिये अध्यापकको सावधान होकर वर्षके आरम्भमें ही यह निश्चय कर लेना चाहिए कि वह किस क्रमसे विभिन्न पाठ पढ़ावेंगे। हमारी पाठ्य-पुस्तकोंमें वर्षा-वर्णन होता है किन्तु हम उसे पढ़ाते हैं गर्मीके दिनोंमें, शरद्-वर्णनको हम पढ़ाते हैं वर्षा ऋतुमें। अतः हमें पाठोंका क्रम निर्धारित करते समय इन बातोंका ध्यान रखना चाहिए—

१. पाठोंका क्रम समयके अनुकूल हो।

२. अन्य ज्ञातव्य विषयोंसे उचित रूपसे सम्बद्ध हो।

३. बालकोंकी मानसिक अवस्था तथा रुचिके अनुकूल हो।

४. भाषाके क्रमिक विकासके अनुसार हो।

५. सरल तथा मनोरंजक पाठोंसे प्रारम्भ करके दुरूह तथा नीरस पाठोंकी ओर प्रवृत्त हो।

---

१४

## पाठ्य-पुस्तकों-द्वारा गद्य-शिक्षाका विधान

आजकल पाठ्य-पुस्तकें हमारी संपूर्ण भाषा-शिक्षाकी केन्द्र बन गई हैं। हम अपनी संपूर्ण शक्ति केवल पाठ्य-पुस्तकको भली प्रकार' पढ़ानेमें लगा देते हैं, क्योंकि उसीमें-से परीक्षा होती है, पाठोंके सारांश पूछे जाते हैं, चरित्र-चित्रण कराया जाता है और व्याख्या, अर्थ तथा भावार्थ लिखनेको आते हैं। परीक्षक लोग बल, छल तथा कौशलसे यह जाँचना चाहते हैं कि विद्यार्थियोंने अपनी पाठ्य-पुस्तक-को नीचे-ऊपर, दाएँ-बाएँ, भीतर-बाहरसे भली प्रकार घोंट-कर पी लिया है या नहीं। सुन्दर अर्थ देखकर, पाठ्य पुस्तक-में आई हुई कथाके नायकका विधिवत् चरित्र-चित्रण देख-कर परीक्षककी बाछें खिल जाती हैं। उसकी समझमें विद्यार्थी बड़ा योग्य है उसके अध्यापक भी उसकी सफल-ताको अपनी सफलता समझते हैं। बेचारे अध्यापक अपनी रोटीकी रक्षाके लिये, अपने स्वामियों—प्रधानाध्यापकों, पाठशालाके अधिकारियों, निरीक्षकोंको प्रसन्न करनेके लिये पूछे जाने योग्य सभी प्रश्नोंका अनुमान करके विद्यार्थियोंको उसी ढंगसे पढ़ाते हैं। इसका दोष शिक्षाप्रणाली तथा परीक्षाप्रणालीके सिर अवश्य है। पर हम और आप दोनों अपनेको इस दोषसे मुक्त करनेकी ढिठाई नहीं कर सकते।

पाठ्य पुस्तकोंमें गद्य और पद्य दोनोंका समावेश होता है। इस प्रकरणमें हम केवल पाठ्य-पुस्तकोंके गद्य भागके

स्वरूप, उसके पढ़ानेके उद्देश्य तथा पाठन-विधियोंपर ही विचार करेंगे।

पाठ्य-पुस्तकोंमें साधारणतः दस प्रकारके गद्य-पाठ रहते हैं—

१. कथा—ऐतिहासिक, पौराणिक नैतिक, काल्पनिक तथा विनोदपूर्ण।

२. जीवनचरित।

३. वैज्ञानिक आविष्कार तथा खोज।

४. नाटक तथा संवाद।

५. वर्णन, यात्रा, प्राकृतिक दृश्य।

६. विचारात्मक निबन्ध।

७. प्राकृतिक विषय—जीव-जन्तु, पेड़-पौधे, नदी-पर्वत आदि।

८. पत्र।

९. मनुष्य—विभिन्न देशोंमें उसका रहन-सहन, आचार-व्यवहार, रीति-नीति आदि।

१०. आलोचना—ग्रन्थ, रचना, व्यक्ति, समाज आदिकी।

नाटक तथा संवादको छोड़कर उपर्युक्त प्रकारके गद्य-पाठोंको पढ़ानेके समष्टि रूपसे निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

१. विद्यार्थियोंको विविध विषयोंका ज्ञान हो अर्थात् वे बहुज्ञ बनें।
२. उनके सूक्ति-भाण्डार तथा शब्द-भाण्डारमें वृद्धि हो।
३. उन्हें भाषा तथा वर्णन-शैलियोंसे परिचय प्राप्त हो।
४. वे भली प्रकार पाठका भाव तथा अर्थ समझ जायँ।
५. वे समझे हुए भावको अपने ढंगसे अपने शब्दोंमें व्यक्त कर सकें।

६. वे लेखकके भावके अनुसार पढ़ सकें।
७. वे भाषा तथा भावोंकी सुन्दरताका आनन्द ले सकें।
८. वे अनुकरणीय भाषा-शैलियोंका प्रयोग कर सकें।
९. उनकी कल्पना-शक्ति बढ़े।
१०. उनके चरित्र-निर्माणमें सहायता मिले अथवा उन्हें व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हो।
११. उनकी क्रिया-शक्ति सचेष्ट हो।

उपर्युक्त साधारण उद्देश्य तो सभी प्रकारके गद्य-पाठोंके शिक्षणमें होते हैं किन्तु पाठ्य-विषयके अनुसार उनके शिक्षणके मुख्य उद्देश्य विभिन्न हो जाते हैं। नीचे दी हुई तालिकामें हम पाठ्य-विषय और उनके विशेष उद्देश्योंका ब्यौरा देते हैं।

| पाठ्य विषय | उद्देश्य |
|---|---|
| १ कथाएँ | १. शब्द तथा सूक्ति-भाण्डारकी वृद्धि।<br>२. वर्णन तथा भाषा-शैलीसे परिचय।<br>३. भाव समझना।<br>४. चरित्र-निर्माण।<br>५. कल्पना-शक्तिको उकसाना। |
| २ जीवनचरित | १. ज्ञान बढ़ाना।<br>२. चरित्र-निर्माणमें योग देना। |

| पाठ्य-विषय | उद्देश्य |
| --- | --- |
| ३. वैज्ञानिक आविष्कार तथा खोज | १. ज्ञान बढ़ाना।<br>२. साहस बढ़ाना।<br>३. संसारकी गतिसे परिचय।<br>४. कल्पना-शक्ति बढ़ाना।<br>५. वैज्ञानिक आविष्कारोंसे लाभ और हानि। |
| ४. वर्णन | १. प्रकृति-प्रेम उत्पन्न करना।<br>२. वर्णन तथा भाषा-शैलियोंका ज्ञान।<br>३. ज्ञान-वृद्धि<br>४ कल्पना-शक्तिको जागरित करनां। |
| ५. विचारात्मक निबन्ध | १. तर्क-शक्ति तथा विवेचनात्मक बुद्धिका विकास करना।<br>२. चरित्र-निर्माणमें योग देना।<br>३. भाव व्यक्त करनेकी विविध शैलियोंका ज्ञान। |
| ६. प्राकृतिक विषय | १. अपने चारों ओरके जीवोंसे प्रेम और सद्भाव उत्पन्न करना<br>२. विश्व-बन्धुत्वकी भावना बढ़ाना।<br>३. परमेश्वरकी महत्ताका प्रत्यक्ष ज्ञान कराना।<br>४. मानव-जीवनका उनसे अवि-च्छेद्य सम्बन्ध दिखलाना। |

| पाठ्य-विषय | उद्देश्य |
| --- | --- |
| ७. पत्र | १. सामाजिक जीवनमें कुशलता, आचार तथा शील सिखाना।<br>२. व्यवहार-कुशलता सिखाना। |
| ८. मनुष्य | १. मानव-समाजका तुलनात्मक ज्ञान देना।<br>२. विश्व-बन्धुत्वकी भावना बढ़ाना।<br>३. दूसरोंके गुण लेकर अपने दोष हटाना।<br>४. ज्ञान-संचय करना।<br>५. कल्पना-शक्तिको उत्तेजित करना। |
| ९. आलोचना | १. निर्णायिका शक्तिको दृढ़ करना।<br>२. समीक्षा-शक्ति बढ़ाना।<br>३. गुण-दोषका निष्पक्ष विवेचन करके गुणका प्रचार करना।<br>४. तर्क और विवेककी साधना कराना। |

ऊपर दिए हुए व्यापक उद्देश्य तथा मुख्य उद्देश्य इतने स्पष्ट हैं कि इनकी व्याख्या करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

उद्देश्योंका विधान हो जानेपर उनकी पाठ्य-विधिका भी निरूपण करना आवश्यक है। पिछले प्रकरणमें हमने

मनोवैज्ञानिक विचार करके कुछ शिक्षा-शास्त्रके व्यापक सिद्धान्तोंका लेखा दिया था। साथ ही यह भी बताया था कि अध्यापकको किस क्रमसे पाठ चलाने चाहिएँ। उन्हीं सिद्धान्तोंके आधारपर आजकलके शिक्षा-शास्त्री लोग हरबार्ट पाठन-प्रणालीको पालन करनेका आदेश देते हैं।

हरबार्टके मतानुसार मनमें यह शक्ति होती है कि विभिन्न इन्द्रियानुभवोंके संयोगमें आकर उसकी शक्ति बढ़ती है अर्थात् 'विचारकी परिधि निरन्तर बढ़ती चली जाती है।' अध्यापकके पास पहुँचनेके समयतक विद्यार्थी बहुतसा अनुभव संचित कर लेता है। अतः हरबार्टके अनुसार अध्यापकका कर्त्तव्य है कि इस संचित अनुभवमें से 'ज्ञान' उत्पन्न करे और नवीन अनुभवोंका संयोग देकर 'सहयोग' उपजावे। हरबार्टके अनुसार बाह्य अनुभव प्राप्त करनेके अतिरिक्त मनमें कोई दूसरी शक्ति नहीं है इसलिये मनको नियमित, शिक्षित तथा उन्नत करनेकी बात व्यर्थ है। उसके अनुसार तो 'संचित अनुभवों' को परिपक्व करना ही शिक्षाका उद्देश्य है। हम यहाँ उसके 'संचित अनुभव-सिद्धान्त' की व्याख्या करने नहीं बैठे हैं और न हमारा यह उद्देश्य ही है। हम उसके दार्शनिक पक्षसे सर्वथा सहमत न होते हुए भी उसके सिद्धान्तोंकी उपेक्षा नहीं कर सकते। वे ये हैं—

१. केवल अर्जनके द्वारा ही शिक्षा देनेकी अत्यन्त आवश्यकता है अर्थात् इस प्रकार शिक्षा दी जाय कि जो अनुभव होता चले उसे बालक अपनाता चले।

२. बालकके अर्जित ज्ञानका निरन्तर प्रयोग हो।

३. शिक्षाके समय पाठ्य-सामग्रीपर ध्यान देने, मनन

करने, उसे पूर्व-संचित ज्ञानसे संबद्ध करने, सक्रिय होने तथा उसको दुहरानेके लिये बालकको प्रेरित करना चाहिए।

इन सिद्धान्तोंके आधार पर ही 'हरबार्टीय पंचाङ्ग पदों'का विधान हुआ है। वे हैं—

१. प्रस्तावना, २. विषय-प्रवेश, ३. आत्मीकरण अथवा तुलना, ४. सिद्धान्त-निरूपण, ५. प्रयोग।

१. प्रस्तावनामें ऐसे एक या दो प्रश्न किए जायँ, चित्र या पदार्थ दिखाए जायँ, कथा कही जाय अथवा कोई ऐसा साधन उपस्थित किया जाय कि बालकोंका मन पिछले घंटेमें पढ़े हुए पाठ्य-विषयसे तथा अन्य बाह्य विचारोंसे हटकर पाठ्य-विषयकी ओर एकाग्र हो। इस समय यह स्मरण रखना चाहिए कि ऐसे प्रश्न न हों या ऐसी बात न हो जो पाठ्य-विषयमें आए हुए ज्ञानका आभास दे। यदि हमें वनगमन का पाठ पढ़ाना हो तो हम प्रस्तावनामें निम्नलिखित साधनोंका प्रयोग कर सकते हैं।

क. वन जाते हुए राम, लक्ष्मण तथा सीताका चित्र दिखलाना।

ख. प्रश्न द्वारा—

अयोध्यायाः प्रजा कं यौवराज्ये प्रतिष्ठितुमिच्छति स्म।
कथं ते रामं प्रतिष्ठितुमिच्छन्ति स्म।

ग. इतिहाससे रामचन्द्रका जीवनवृत्त पढ़कर या सुनाकर या बालकोंसे कहलवाकर।

२—विषय-प्रवेशमें मुख्य पाठ्य-विषयको भावके अनुसार अन्वितियोंमें बाँट लेना चाहिए और एक एक अन्विति बालकोंके सामने निम्नलिखित क्रमसे प्रस्तुत करनी चाहिए—

क. सस्वर वाचन, सन्धि-समास-विग्रह तथा दंडान्वय।
ख. एक एक अन्वितिपर भाव-परीक्षक प्रश्न।

सस्वर वाचनके गुण-दोषोंका तथा उसकी विधियोंका हम पीछे विस्तृत वर्णन कर आए हैं। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पहले अध्यापकको आदर्श वाचन करना चाहिए तदनन्तर छात्रोंसे अलग अलग पढ़वाना चाहिए। यह वाचन ऐसा भावपूर्ण हो कि पाठ्य-विषय, शब्दोंके अर्थ तथा भाव स्पष्ट हो जायँ। उचित तथा ललित अंग-संचालन तथा स्वरके उतार-चढ़ावसे यह कार्य बड़ी सरलतासे किया जा सकता है। वाचनपर पाठकी बहुत कुछ सफलता अवलम्बित है और प्रारम्भिक कक्षाओंसे लेकर माध्यमिक कक्षाओंतक सस्वर वाचन-द्वारा ही प्रारम्भिक कक्षाओंमें ही छात्र भावपूर्वक बाँचना सीख सकते हैं।

विद्वानोंका कहना है कि कक्षामें जिस समय सस्वर वाचन होता है उस समय एक विद्यार्थी पढ़ता है, शेष विद्यार्थी अपनी पोथियोंमें दृष्टि गड़ाए रहते हैं। किन्तु वे ध्यानपूर्वक पढ़ते भी हैं या नहीं इसका निर्णय नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि उनसे पठित अंशपर प्रश्न पूछकर यह बात जानी जा सकती है तो शिक्षा-शास्त्री कहते हैं कि यदि ऐसा हो तब तो वे इसे स्वरुचि से नहीं वरन् पूछे जानेके भय तथा शंकासे पढ़ते हैं। अतः यह आवश्यक है कि उन्हें स्वतः पढ़नेको कहा जाय। किन्तु वे सभी यदि उच्च स्वरसे पढ़ने लगेंगे तब तो कक्षा एक सट्टी बन जायगी। अतः सब यदि अपनी वाणीके बदले अपने नेत्रोंसे पढ़ें अर्थात् मौन वाचन करें तो अधिक लाभ होगा। इस प्रणा-

लीसे समयकी बचत होती है क्योंकि उच्चारण स्वर, स्वराघात इत्यादि ठीक करानेमें जो समय लगता है वह इसमें नहीं लगेगा। ज्यों ही छात्रोंने एक अन्विति या एक अंश पढ़ा त्यों ही अध्यापक उनसे प्रश्न पूछना आरम्भ कर दे। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि इस प्रणालीसे समय तो अवश्य बचता है किन्तु सस्वर वाचनसे भावोंका जो स्पष्टीकरण हो जाता है वह इससे नहीं हो पाता। अतः मौन वाचनका प्रयोग माध्यमिक कक्षाओंसे ऊपर ही करना चाहिए क्योंकि उस समय-तक विद्यार्थी शुद्ध उच्चारणमें अभ्यस्त हो चुकते हैं।

पाठ समाप्त होनेके उपरान्त कुछ भाव-परीक्षा कर लेनी चाहिए अर्थात् एक या दो ऐसे प्रश्न करने चाहिएँ, जिनके उत्तरमें पठित अंशके भाव आ जायँ।

३. आत्मीकरणमें विद्यार्थीके अनुभूत अथवा संचित ज्ञानसे पाठ्य ज्ञानकी तुलना कराकर उसे अपनानेमें सहायता देनेके लिये पाठ्य विषयकी विस्तृत व्याख्या तथा उसका विचार-विश्लेषण किया जाता है। कुछ विद्वानोंका कथन है कि कठिन शब्दों तथा वाक्योंका अर्थ पहले श्यामपट्टपर छात्रोंकी सहायतासे लिख दिया जाय और उसके बाद पठन हो किन्तु यह प्रणाली इसलिये निरर्थक और त्याज्य है कि मूल पाठको छोड़कर बेसिरपैरके शब्द और वाक्य क्यों श्यामपट्टपर लिखे जायँ। फिर हम यह कल्पना ही कैसे कर सकते हैं कि अमुक शब्द या वाक्य छात्र न जानते होंगे। अतः उचित यही है कि जैसे जैसे बाधा या कठिनता उपस्थित हो वैसे ही वैसे उसका निराकरण भी किया जाय। विस्तृत व्याख्यामें कठिन शब्दों, उक्तियों,

वाक्योँ तथा भावोँका स्पष्टीकरण किया जाता है और यहीँ-पर निम्नलिखित विधियोँके द्वारा विद्यार्थी अपने संचित ज्ञानके आधारपर नवीन ज्ञानको अपनाता चलता है—

१. वस्तु प्रस्तुत करके—जैसे लेखनी आम, अंजीर इत्यादि।

२. चित्र, मानचित्र, अथवा मूर्त्ति प्रस्तुत करके—जैसे शिवाजी, बुद्ध, भारत या कुमारिलभट्ट आदि की।

३. श्यामपट्टपर रेखाचित्र बना करके—जैसे त्रिकोण, वृत्त, वीणा, इत्यादि।

४. प्रश्नोँ-द्वारा।

५. तुलना द्वारा—जैसे गौः सौम्यो पशुः सिंहः भयानकः।

६. उदाहरण-द्वारा—जैसे 'परोपकार' शब्दका अर्थ समझानेके लिये शिवकुमार शास्त्री या मालवीयजी-का उदाहरण देकर समझाना।

७. कथा-द्वारा—जैसे 'पदे रोदसी' पढ़ानेके लिये वामना-वतारकी कथाका आधार बताना।

८. अर्थ-द्वारा—जैसे उन्मत्तः=मत्तः, पागल या मतवाला।

९. व्युत्पत्ति-द्वारा—जैसे रावणारिः = रावणस्य + अरिः अर्थात् रावणके शत्रु राम।

१०. व्याख्या-द्वारा—जैसे 'सुप्तोद्य गांडीवः' में आजकी दशा तथा अर्जुनके गांडीवके समयकी दशा दिख-लाकर अर्थ समझाना कि हम शक्तिहीन हो गए हैं।

११. प्रयोग-द्वारा—जैसे केमरामेँ चित्र लेनेकी क्रिया दिख-लाकर वह पाठ पढ़ाना।

१२. कल्पनाको उद्बोधित करके—जैसे रघुवंशका त्रयो-दश सर्ग पढ़ाते समय वायुयानमेँ बैठकर प्रयागमेँ गंगा-यमुना-संगमके सैरका स्मरण दिखलाकर।

१३. अभिनय अथवा अंग-सञ्चालन द्वारा—जैसे बाहु-प्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः, चित्रार्पितारम्भइवावतस्थे। इत्यादिका अभिनय करके।

१४. वाक्य-विच्छेद करके। जब गुम्फित वाक्य हो तो उसे कई भागोंमें बाँटकर स्पष्ट करना जैसे कादम्बरीके बड़े बड़े वाक्य।

यह स्मरण रखना चाहिए कि—

(क) कक्षामें पाठकी व्याख्या करनेके लिये बन्दर, बिल्ली, साँप, चूहा आदि प्राप्य होनेपर भी नहीं लाने चाहिएँ क्योंकि वे या तो विद्यार्थियोंको डरा देंगे या इतना विनोद उत्पन्न करेंगे कि छात्रोंका मन उन्हींमें लग जायगा, वे पढ़ न सकेंगे।

(ख) अङ्ग-संचालन तथा अभिनय ललित, उचित तथा आवश्यक होना चाहिए। असुन्दर, अनुचित तथा अनावश्यक अङ्ग-संचालन तथा अभिनय नहीं करने चाहिएँ, जैसे खुजलाना, थिरकना, उँगली चमकाना, ठठाकर हँसना इत्यादि।

(ग) भयानक पदार्थोंका प्रयोग या प्रदर्शन कक्षामें नहीं करना चाहिए, जैसे बन्दूक (नलिका), विस्फोट-सामग्री, विष इत्यादि।

(घ) प्रश्न सरल, सुबोध, कल्पनाको बढ़ानेवाले, विचार-विवर्द्धक तथा स्पष्ट हों और मधुरताके साथ पूछे जायँ।

कुछ लोग प्रारम्भिक कक्षाओंमें विस्तृत व्याख्या करते समय मौखिक प्रणालीका प्रयोग करनेकी सम्मति देते हैं अतः उसका सदुपयोग करनेके लिये उसका ब्यौरा देना भी अप्रासंगिक न होगा।

मौखिक-प्रणाली द्वारा भाषा-शिक्षा कई विधियोंसे दी जा सकती है। वे विधियाँ हैं—व्यवस्था-विधि, प्रश्नोत्तर-विधि, संवाद-विधि, तर्क-विधि, तथा व्याख्यान-विधि। व्यवस्था-विधिमें अध्यापक समूचा ज्ञान अपने मुखसे बालकोंको दे देता है और वे गूँगे बैठे रहते हैं। यह स्पष्टतः अवैज्ञानिक तथा त्याज्य विधि है। दूसरी प्रश्नोत्तर-विधि सर्वश्रेष्ठ विधि है। इसमें सचेष्टता भी होती है एकाग्रता भी रहती है और विद्यार्थियोंकी उत्सुकता भी बढ़ती है। इसकी व्याख्या हम पीछे रचना-शिक्षामें कर आए हैं। तीसरी संवाद-विधि भी वही है जो ऊपर प्रश्नोत्तर-विधिके नामसे कही गई है। अन्तर केवल यह है कि इसमें विद्यार्थी अपने अध्यापकसे प्रश्न पूछते हैं अथवा परस्पर संवाद-द्वारा विवादग्रस्त विषयका निर्णय करते हैं। चौथी तर्क-विधिमें तर्क, प्रमाण तथा युक्तियोंका सहारा लिया जाता है। यह विधि प्रायः ऐसे विषयोंके लिये प्रयुक्त होती है जिनके विषयमें दोनों ओरसे बहुत कुछ कहा जा सकता है इस विधिमें अध्यापकको केवल एक ही पक्षका समर्थन नहीं करना चाहिए वरन् दोनों पक्षोंका विवरण देना चाहिए। पाँचवीं व्याख्यान-विधि वही है जो हमारे यहाँ कौलेजोंमें काममें लाई जाती है। इसमें अध्यापक एक तटस्थ व्यक्तिके समान आता है और प्रस्तुत विषयपर व्याख्यान देकर चला जाता है चाहे उसे किसीने सुना समझा हो या नहीं।

विस्तृत व्याख्या हो चुकनेपर कुछ ऐसे सरल, स्पष्ट और क्रमिक प्रश्न पूछे जायँ कि उन प्रश्नोंद्वारा छात्रोंसे पठित अंशका पूरा पूरा ब्यौरा निकलवा लिया जा सके। इस क्रमको विचार-विश्लेषण कहते हैं।

४—सिद्धांत-निरूपणमें दो अवस्थाएँ होती हैं। यदि नवीन ज्ञान देनेका उद्देश्य कोई सिद्धान्त या नियम सिखाना होता है तो विस्तृत व्याख्या तथा विचार-विश्लेषण करनेके उपरान्त छात्रोंसे ही नियम या सिद्धान्त निकलवा लेना चाहिए। यदि पाठका उद्देश्य सिद्धान्त या नियम सिखाना न हो तो पढ़े हुए पाठ्य विषयकी आवृत्ति कराकर उसे पक्का करा देना चाहिए। भाषाकी शिक्षा देते समय तो पुनरावृत्ति ही करानी चाहिए किन्तु व्याकरण, रस, अलंकार, पिङ्गल आदिकी शिक्षामें सिद्धान्त-निरूपण ही करना चाहिए। इस भेदके कारण इस पदको शुद्ध सिद्धान्त-निरूपण न कहकर हम पुनरावृत्ति भी कह सकते हैं।

५—नवीन ज्ञानके दृढ़ हो जानेपर अभ्यासार्थ ऐसी समस्याएँ, ऐसे प्रश्न अथवा कार्य देने चाहिएँ कि बालक नवीन ज्ञानका प्रयोग कर सके क्योंकि यदि सीखी हुई बातोंके स्वतन्त्र प्रयोगका अवसर नहीं मिलता तो वे लुप्त हो जाती हैं। संभव हो तो यह प्रयोग कक्षामें ही समाप्त हो जाय अन्यथा घरसे पूरा करके लानेके लिये दे दिया जाय।

सारांश यह है कि गद्य-पाठके पाठ-सूत्र बनाते समय पाठक्रम यों रखना चाहिए—

विषय अथवा पाठ—( पाठका शीर्षक )

पाठ्य सामग्री—( कितना अंश पढ़ाया जायगा )

मुख्य उद्देश्य—

पाठन-प्रणाली—

प्रस्तावना—( प्रश्न दिए जायँ अथवा जिन साधनोंका प्रयोग किया जाय उनका स्पष्ट उल्लेख हो )

विषय-प्रवेश—

(१) सस्वर अथवा मौन पाठ

(क) अध्यापक-द्वारा

(ख) छात्रों-द्वारा

(२) बोध-परीक्षा ( प्रश्नोंका उल्लेख हो )

आत्मीकरण—

(क) विस्तृत व्याख्या

(ख) विचार-विश्लेषण

पुनरावृत्ति—

प्रयोग—

यहाँ हम गद्य-पाठ पढ़ानेका क्रम, उसकी प्रणाली तथा विधियोंकी चर्चा समाप्त करते हैं।

---

*

१५

# कविता पढ़ानेके उद्देश्य और उसकी शिक्षण-विधियाँ

पद्य और कवितामें भेद है। कोई भी छन्दोबद्ध रचना पद्य कहला सकती है। परन्तु कविताकी परिभाषा भिन्न-भिन्न विद्वानोंने भिन्न-भिन्न ढंगोंसे की है। आचार्य मम्मटके कथनानुसार दोषरहित, गुणसहित प्रायः अलंकृत पर कभी-कभी अनलंकृत शब्द और अर्थको काव्य कहते हैं।* इस परिभाषाको एकदम ठीक माननेमें प्रधान बाधा यह है कि स्वरूप-लक्षणके भीतर किसी वस्तुके गुणयुक्त और दोषयुक्त होनेका विचार नहीं किया जा सकता। जैसे यदि हम घोड़ेका स्वरूप-लक्षण निर्दिष्ट करें तो हमारा यह कहना कदापि उचित न होगा कि दोषयुक्त तथा गुणयुक्त अमुक-अमुक लक्षणोंवाले चतुष्पदको घोड़ा कहते हैं। क्योंकि यद्यपि तेज चलना घोड़ेका गुण है तथापि यदि वह तेज न चले तो भी उसके घोड़ेपनमें कोई अन्तर न आवेगा, वह घोड़ा ही रहेगा। इसके अतिरिक्त गुण शब्दका अर्थ यदि ओज, माधुर्य आदि लें तो उसका सम्बन्ध रीतिसे हो जायगा जो उक्त लक्षण-स्वरूपके भीतर नहीं आता। वस्तुतः गुणका सम्बन्ध रससे ही होता है शब्द या अर्थसे नहीं। फिर परमात्माके सिवाय और कौन निर्दोष कहला ही सकता है।

* तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।—काव्यप्रकाश

इसी प्रकार 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर वामनने काव्यका आत्मा रीतिको बतलाया है। रीतिसे अर्थ है गौड़ी, वैदर्भी और पांचाली रीतियाँ। अतः रीतिका सम्बन्ध हुआ वर्णोंकी व्यवस्थासे अर्थात् इसका सम्बन्ध कानोंपर पड़नेवाले प्रभावसे है। वामन तो काव्यमें सङ्गीत-तत्त्वके समर्थक हैं। वे इसे ही कविता मानते हैं। पर विचारणीय बात यह है कि यदि हम इसीको कविताका आत्मा मान लें तो काव्य और सङ्गीत-तत्त्वके मिश्रण से केवल कविताका माधुर्य्य ही तो बढ़ता है। अतः काव्यमें रीति केवल सहायक भर है। इसके अतिरिक्त उक्त लक्षणमें केवल वर्णोंका ध्यान रक्खा गया है, शब्द या अर्थका नहीं। परन्तु केवल वर्णोंकी व्यवस्था ही काव्यकी अनुभूतिके लिये पर्य्याप्त नहीं है।

दूसरी ओर भामह और दण्डी काव्यमें अलङ्कारका होना आवश्यक मानते हैं। शोभाको बढ़ानेवाली वस्तुको अलंकार कहते हैं। अर्थात् पहलेसे सुन्दर वस्तु उपस्थित रहती है और अलङ्कारोंसे शोभा बढ़ सकती है न कि उसकी उत्पत्ति होती है। असुन्दर और अशोभन वस्तुकी शोभा बढ़ानेके बदले अलङ्कार उसे और भी भद्दा बना देते हैं।

पंडितराज जगन्नाथ कहते हैं, 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।' अर्थात् रमणीय अर्थ बतानेवाला शब्द ही काव्य है।

और रमणीयताकी परिभाषा यह है कि क्षण-क्षण पर जिसमें नवीनता दिखाई पड़े वही रमणीयता कहला सकती है—'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।' विश्वनाथ कविराजका कहना है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'

अर्थात् रसीला वाक्य ही काव्य है। कोई कहते हैं काव्यका आत्मा ध्वनि ही है। इस प्रकार जितने आचार्य्य हैं सभीने अपनी-अपनी दृष्टिसे कविताको देखा है। जिसे उसका कोई अंग रुचा उसने उसका वैसा ही वर्णन किया। अनेक आचार्य्योंके बीचमें कविताकी वही गति हुई जो धनुषभंगके समय रामकी हुई थी—

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

हिन्दी साहित्यके आचार्य्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल-द्वारा दिए हुए कविताके लक्षणसे बहुत कुछ हमारे उद्देश्यकी पूर्त्ति हो जाती है। शुक्लजीके कथनानुसार 'कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टिके साथ हमारे रागात्मक सम्बन्धकी रक्षा और निर्वाह होता है।' इसीसे मिलता-जुलता लक्षण अँगरेज कवि कीट्सने दूसरे अँगरेज कवि पोपकी कवितापर टिप्पणी करते हुए बताया था—

"..........................फ़ौर्गेटिंग दि ग्रेट एंड
औफ़ पोएट्री, दैट इट शुड बी ए फ़्रैण्ड
टु सूद दि केअर्स ऐण्ड लिफ़्ट दि थौट्स औफ़ मेन्।"

अर्थात् पोप महोदय कविताका यह महान् उद्देश्य भूल गए कि वह उस मित्रके समान हो जो चिन्ताओंको शान्त करे और मनुष्योंके विचारोंको उन्नत करे।"

हमें छन्दोबद्ध रचनाओंकी तीन श्रेणियाँ मिलती हैं। पहलीमें कोरी लयदार तुकबन्दी या बाल गीत, दूसरीमें वर्णनात्मक पद्य और तीसरीमें विशुद्ध कविता। बालकोंके अध्ययनकी भी साधारणतः तीन अवस्थाएँ हैं जिन्हें प्रारम्भिक, मध्य तथा उच्च अवस्था कह सकते हैं। प्रारम्भिक अवस्थावाले विद्यार्थियोंको केवल लयदार तुक-

वन्दियाँ या बाल-गीत, मध्यावस्थावालोंको सरल पद्यमय रचनाएँ और उच्च कक्षावालोंको भावमयी कविताएँ सिखानी चाहिएँ।

बच्चोंको ऐसे सरल पद्य याद कराने चाहिएँ जिनमें सरल शब्द हों, जो सरलताके साथ गाए जा सकें और जिनमें लयगति के साथ नाट्य करनेका सुपास हो। मध्यम श्रेणीके विद्यार्थियोंके लिये ऐसी रचनाओंका संग्रह करना चाहिए जिनकी छाप उनके हृदयपर पड़े, जो देश-भक्ति-विषयक हों या दया, उत्साह आदि उदात्त भावोंको जगानेवाली हों। ऐसी कविताएँ विद्यार्थियोंको अवश्य कण्ठस्थ करानी चाहिएँ। उच्च कक्षाके विद्यार्थियोंके लिये प्रस्तुत संग्रहोंमें ऐसी कविताएँ देनी चाहिएँ जिन्हें वे चावसे पढ़ें और कण्ठस्थ कर लें। ये बातें हम पीछे विस्तारसे सुझा आए हैं।

गद्य और पद्यकी शिक्षामें बड़ा अन्तर है। गद्यकी नीरसता तथा संगीत-हीनताके कारण उसकी शिक्षामें एक नियमित यन्त्रके समान व्यवहार होता है। उसमें जिस कुतूहलका प्रयोग किया जाता है, जो रुचिकर सामग्री लाकर मिलाई जाती है उसमें स्वाभाविकता नहीं होती, बलपूर्वक गुदगुदी करके मुस्कुराहट पैदा की जाती है। किन्तु पद्य या कवितामें यह बात नहीं है। कविता छन्दोमय होती है। छन्दोबद्ध तथा नियमित गतिमें होनेके कारण वह तालपर चलती है। तालपर सधी होनेसे वह रागमय हो जाती है और रागमय होनेके कारण वह हृदय तक पहुँचती है। इसीलिये सूत्राब्दियोंसे हमारा संपूर्ण संचित ज्ञान पद्यमय तथा कवितामय बना रहा। कुछ उसके माधुर्यके तथा

कुछ उसके लघु स्वरूपने मानव-हृदय तथा मस्तिष्कको अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। हमारे शिक्षा-शास्त्रियोंने भी इसीलिये पद्य या कविताकी शिक्षण-पद्धतिका विधान गद्य-शिक्षण-पद्धतिसे अलग किया है।

पद्य तथा कविता-शिक्षणके निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

१. लय, ताल और भावके अनुसार कविता-पाठ करना।
२. कविता में रुचि बढ़ाना।
३. उदात्त भावोंका संवर्धन करना।
४. कविका भाव समझना और अपने शब्दोंमें उसकी व्याख्या करना।
५. सौन्दर्यानुभूति बढ़ाना।
६. काव्य-रचना करनेके लिये उत्साहित करना।
७. काव्य-शैलियोंसे परिचित कराना।
८. कल्पनाशक्ति बढ़ाना।
९. रस और भावका आनन्द लेना।
१०. काव्य-भाषाका (शब्द और अर्थका) सौन्दर्य परखना।

इन उद्देश्योंको दृष्टिमें रखकर कविता पढ़ानेकी निम्नलिखित प्रणालियाँ प्रचलित हैं—

१. गीत तथा अभिनय प्रणाली।
२. अर्थ-बोध-प्रणाली।
३. व्याख्या प्रणाली।
४. खण्डान्वय-प्रणाली।
५. व्यास-प्रणाली।
६. तुलना-प्रणाली।
७. समीक्षा-प्रणाली।

१—गीत तथा अभिनय-प्रणाली उन बालकबालिकाओंके लिये

प्रयोगमें लानी चाहिए जो प्रारम्भिक कक्षाओंके बच्चोंको पढ़ाए जाते हैं। इन गीतोंमें अर्थका कोई महत्त्व नहीं होता केवल बालकोंको सस्वर बनाना, तालमें लाना और उनको संगीतसे परिचित कराना ही इनका उद्देश्य होता है। ये दो प्रकारके होते हैं—एकमें गीतध्वनिकी प्रधानता होती है। जैसे—

सोपानमार्गेण करोति शब्दं।
टटंटटंटं-टट-टंट-टंटः ॥

दूसरेमें अभिनयकी प्रधानता होती है। जैसे—

आगच्छ मार्जार ममान्तिके त्वं
गृहाण दुग्धं दधि शर्करान्वितम्।
नोचेदहं दंडबलेन शीघ्रं
भग्नामि दंतावलिमाशु पूर्णाम् ॥

इन उपर्युक्त दोनों प्रकारके पदोमेंसे प्रथमको गीत-प्रणालीसे पढ़ाना चाहिए। गीत-प्रणालीसे पढ़ानेकी विधि यह है कि कक्षाके बच्चोंको खड़ा करके हाथसे ताल दिलाकर किसी सरल रागमें पद्यको गवाना चाहिए। यदि ऐसी रचनाओंमें कहीं विशेष ध्वनियाँ आती हों तो वे ही ध्वनियाँ प्रयत्न करके कहलानी चाहिए। जैसे ऊपर लिखी हुई पहली रचनामें टटंटटंटंटटटंटंटंटः है।

दूसरे प्रकारके गीतोंकी शिक्षा देते समय विद्यार्थियोंको पंक्तिमें खड़ा करके पहले तो सबसे शब्द, वाक्य या भावके अनुसार अभिनय कराना चाहिए और फिर उस पद्यमें आए हुए चरित्रोंके अनुसार पात्र निश्चय कर लेने चाहिएँ और उनके अनुकूल गीतका भाग पृथक् पृथक् गवाकर कहलाना चाहिए।

जब सामूहिक अभिनय द्वारा एक साथ ठीक अभिनय आ जाय तो फिर अलग अलग अभिनय कराना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास-द्वारा बालकोंको पद्योंमें रुचि होने लगती है, उनमें फुर्ती आती है, पद्य याद हो जाता है, उचित अंग-संचालनके द्वारा भाव व्यक्त करनेकी विधि आ जाती है, पाठ तनिक भी भारी नहीं लगता। सब ज्ञान खेलके द्वारा ही प्राप्त हो जाता है। ऐसे बाल-गीतोंका शब्दार्थ सिखानेकी आवश्यकता नहीं है।

२—अर्थ-बोध प्रणालीकी अधिक व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह वही दूषित प्रणाली है जिसका प्रयोग हमारे अध्यापक मित्र बड़े धड़ल्लेके साथ करते हैं और कविताका गला घोंट-घोंटकर, साँसत दे-देकर उसकी हत्या करते हैं। इस प्रणालीमें अध्यापक एक छात्रसे कोई पद्य पढ़वाते हैं और स्वयं उसका अर्थ कह देते हैं या कभी-कभी छात्रसे ही अर्थ कहलवा लेते हैं।

३. व्याख्या-प्रणालीमें अध्यापक एक पदको लेकर उसका अर्थ कहते हुए उसकी रचना-शैली, परिस्थिति, कविकी रुचि, उद्देश्य आदिकी व्याख्या करके पदका अर्थ स्पष्ट करता है। यदि पदका किसी ऐतिहासिक घटनासे संबन्ध होता है तो उस घटनाका भी ज्ञान करा दिया जाता है।

महाकवि कालिदासका एक श्लोक लीजिए—

करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चंडि कुतूहलिन्या।
आमुंचतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते।

उपर्युक्त श्लोकको अर्थबोध-प्रणालीसे पढ़ानेवाला अध्यापक निम्नलिखित अर्थ बताकर आगे बढ़ जायगा :—

हे चण्डि! विमानकी खिड़कीसे बाहर लटके हुए अपने

हाथसे जो तुमने बादलको छू दिया है तो बादलने तुम्हारे हाथमें बिजलीके कड़ेका एक नया आभूषण पहना दिया।

किन्तु व्याख्या-प्रणालीसे पढ़ानेवाला अध्यापक केवल अर्थमात्र देकर सन्तुष्ट नहीं होगा। वह बतावेगा कि राम पुष्पक विमानसे जब चले जा रहे थे, तो सीताजीने कौतूहल-वश अपना हाथ बाहर निकाला क्योंकि साधारणतः किसी भी तीव्रगामी यानपर बैठकर चलनेवालेको बाहर सिर या हाथ निकालकर वायुका वेग मापनेका कुतूहल होता है। पुष्पक विमान उस समय बादलोंमें से जा रहा था, सीताजी-ने ज्योंही बादलोंको छुआ कि बादलोंके विद्युत्कण आन्दो-लित हो उठे और बिजली चमक उठी। बिजलीसे खेलना भी कोई साधारण पराक्रमकी बात नहीं है। इसीलिये रामने सीताजीको 'चण्डि' कहकर सम्बोधन किया है। फिर चक्रवर्ती दशरथकी पुत्रवधू आज पहली बार आकाशसे होकर जा रही है। गगनचारी मेघोंका कर्तव्य है कि उनका अभिनन्दन करें। इसलिये हाथका स्पर्श होते ही उन्होंने कड़ा पहनाकर अभिनन्दन किया।

इतना अर्थ बता देनेपर इस श्लोकका चमत्कार छात्र भली-भाँति समझ सकेंगे और साधारणतः कविता पढ़ानेमें इसी प्रणालीका प्रयोग करना चाहिए।

४—खण्डान्वय-प्रणाली वही है जिसे गद्य-शिक्षणमें हम ठेठ प्रश्नोत्तर-प्रणाली कह आए हैं। यह प्रणाली उन पद्योंके पढ़ानेमें काम आती है जहाँ विशेषणोंकी भरमार हो, भावोंकी भीड़ हो, घटनाओंकी घटा हो और एक-एक बात अलगाए बिना अर्थ स्पष्ट करनेमें बाधा आती हो।

एक प्रसिद्ध उदाहरण ले लीजिए—

नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम्।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम् ।

इस श्लोकको खण्डान्वय प्रणालीसे पढ़ानेके लिये निम्नलिखित प्रश्न करने होंगे :—

प्र०—किं करोमि ?

उ० लघुसिद्धान्तकौमुदीम्।

प्र०—किं कृत्वा लघुसिद्धान्तकौमुदीम् करोमि ?

उ०—सरस्वतीं देवीम् नत्वा।

प्र० कथं भूताम् सरस्वतीं देवीं ?

उ०—शुद्धाम्।

प्र०- पुनः कथं भूताम् ?

उ०—गुण्याम्।

प्र०- कथं लघुसिद्धान्तकौमुदीम् करोमि ?

उ०—पाणिनीयप्रवेशाय।

यह स्मरण रखना चाहिए कि यह प्रणाली सब स्थानों-पर तथा सब प्रकारके पद्यों तथा कविताओंके शिक्षणमें काममें नहीं लाई जा सकती। प्रायः वर्णनात्मक तथा ऐतिहासिक पद्य इस प्रणालीसे पढ़ाए जा सकते हैं।

५—व्यास-प्रणाली मुख्यतः उच्च श्रेणीकी भाव-प्रधान कविताओंको पढ़ानेके लिये प्रयोगमें लाई जाती है। इस प्रणालीमें अध्यापक वही स्थान ग्रहण करता है जो कथाओं-में व्यास ग्रहण करते हैं। जिन लोगोंने व्यासोंके मुखसे कथाएँ सुनी होंगी वे इस प्रणालीका महत्त्व तथा इसकी उपादेयता समझ सकेंगे। इस प्रणालीमें एक पद लेकर उसको दो दृष्टियोंसे परखा जाता है—एक भाषाकी दृष्टिसे, रे भावकी। भाषाकी दृष्टिसे विचार करते समय

अध्यापक एक एक शब्दका महत्त्व, उसकी उपादेयता, उसके स्थानपर दूसरा शब्द प्रयोग करनेसे अर्थापत्ति, श्रुति-मधुरता, शब्दका बल, वाक्य-विन्यासके विशेष प्रभाव आदिकी व्याख्या करता है। भावकी दृष्टिसे विचार करते समय अध्यापक अन्य कवियोंके समान भाववाले पदोंसे निर्दिष्ट पदकी तुलना करता है। उसकी व्याख्या करते समय बाहरसे:उदाहरणों, दृष्टान्तों, सूक्तियों तथा कथाओं-द्वारा उसके भावको भली-भाँति स्पष्ट कर देता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि भाषा और भाव दोनोंका साथ-साथ विचार करना चाहिए। इस प्रणालीसे पढ़ानेवाले अध्यापकको हिन्दी, उर्दू, संस्कृत तथा इतिहासादिका विस्तृत ज्ञान होना चाहिए तभी वह इस प्रणालीसे पढ़ानेमें सफलता पा सकता है। साथ ही उसे कुशल अभिनेता भी होना चाहिए। भावोंकी व्याख्या करके उन्हीं भावोंमें वह कभी तो अपनेको डुबाता-उतराता चले, कभी करुणाके प्रसंगमें अश्रुधारा बरसा दे, कभी हास्यके समय श्रोताओं-को हँसा दे, कभी वीर रसके प्रसंगमें गंभीर वाणी, फड़कते नासापुटों, चढ़ी हुई भौहों तथा हाथोंके संचालनसे ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दे कि श्रोताओंमें उत्साह भर जाय और उनकी भुजाएँ फड़कने लगें।

किसी एक भक्तका एक श्लोक लीजिए:—

क्षीरसारमपहृत्य शंकया स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया।
मानसे मम नितान्त तामसे नन्दनन्दन कथं न लीयसे!

भो नन्दनन्दन! यदि क्षीरसारम् अपहृत्य शंकया त्वया पलायनं स्वीकृतं, तदा त्वं मम नितान्त तामसे मानसे कथं न लीयसे?

इसमें सम्बोधन किया है 'नन्दनन्दन'। नन्द थे अहीरोंके मुखिया जिनके घर दूध-दहीका भंडार भरा रहता था। उन नन्दके यहाँ सुन्दर कृष्ण उत्पन्न हुए जिन्हें न जाने कैसे-कैसे नन्द और यशोदाने पाला-पोसा और जिनकी बाल-लीलाओंको देखकर नन्द बलिहारी जाते थे, वे नन्दके लड़के नन्दनन्दन श्रीकृष्ण, मुखियाके पुत्र होकर भी, घरमें दूध-दहीका भंडार होते हुए भी, ग्वालिनके घरमें दूध दहीके मटके भरे देखकर घुस गए और कुछ मोड़-तोड़कर कुछ खा-गिराकर और कुछ हाथमें लिए-दिए भागे।

पहली-पहली बार चोरी की थी। मार्गोंसे परिचय नहीं था, खोजने लगे कहीं छिपनेका ठौर। कोई भक्त भी खड़ा खड़ा देख रहा था, उसने देखा कि नन्दनन्दन कहीं ऐसे स्थानमें छिपना चाहते हैं जहाँ अँधेरा हो, कोई उन्हें देख न पावे।

ना मैं देखूँ औरको ना तोहिं देखन देउँ।

वह पुकारकर कहता है नन्दनन्दनसे ठहरो, कहाँ जाते हो भागे हुए। मैं तुम्हें स्थान बताता हूँ। देखो यह है मेरा हृदय, अन्धकारसे भरा हुआ! बस यहीं आकर क्यों नहीं छिप जाते। यहाँ कोई तुम्हें ढूँढ़कर पा न सकेगा।

ऊपर हमने संकेतसे व्यास-प्रणालीसे पढ़ानेकी व्याख्या की है। यह स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रणालीमें सब काम अध्यापक करता है। विद्यार्थी चुपचाप सुनते हैं और उनके हृदयपर जो प्रभाव पड़ता है वह उनकी भाव-भंगी, आँखोंके उल्लास आदिसे व्यक्त होता रहता है। भावात्मक कविताओंकी शिक्षामें इसी प्रणालीका प्रयोग किया जाना चाहिए। प्रश्नोत्तर-विधिका प्रयोग इसमें बिलकुल नहीं होना

चाहिए क्योंकि प्रश्नोत्तर-विधि से पाठ नीरस हो जाता है और भाव नष्ट हो जाता है।

६—तुलना-प्रणाली और तुलना-विधिमें अन्तर है। तुलना-विधि तो किसी एक शब्द या वाक्यका समानार्थी शब्द या वाक्य देकर उसका अर्थ स्पष्ट करनेमें योग की जाती है किन्तु तुलना-प्रणाली पद्य या कविता पढ़ानेकी एक भिन्न प्रणाली है। प्रायः यह देखनेमें आता है कि एक ही कवि अपने बनाए हुए विभिन्न काव्योंमें एक ही बात कई उद्देश्यों, प्रकारों या भावोंसे कहता है या कई कवि एक ही भावको कई प्रकारोंसे कहते हैं ऐसे भावों या वर्णनोंको तुलनात्मक प्रणालीसे पढ़ाना चाहिए। इससे एक पन्थ दो काज होता है, विद्यार्थीकी विवेचना-बुद्धि बढ़ती है, उसके ज्ञानका विस्तार होता है और कविके उद्देश्यों, कविताके भिन्न स्वरूपों तथा एक भावको कई प्रकारसे व्यक्त करनेकी शैलियोंका परिज्ञान होता है।

जैसे संस्कृत का एक कवि ईश्वरसे प्रार्थना करता है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।

न तो मैं राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग चाहता हूँ और न मुक्ति ही चाहता हूँ। मैं तो यह चाहता हूँ कि दुःखसे तपे हुए प्राणियोंका दुःख दूर करता रहूँ।

फ़ारसका एक कवि इसी प्रकार भगवानसे प्रार्थना करता है—

'ऐ मालिके' हर बलन्दोबस्ती,
शाख़ीज़ अता बेकुन ज़े हस्ती।

इलमो अमलो फराग दस्ती ।
ईमानो आमानो तन्दुरुस्ती ॥

हे सचराचरके स्वामी! छः वस्तुएँ मुझे प्रदान कीजिए—विद्या, व्यावहारिता, उदारता, सत्यता, शान्ति और स्वस्थता ।

अंग्रेजी भक्त कहता है—

ओ गोड! ग्राण्ट मी माई डेली ब्रेड ।

हे ईश्वर! मुझे नित्य ही रोटी दिलानेकी व्यवस्था कर ।

हिन्दीका कवि कहता है—

साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय,
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय ।

हे स्वामी! इतना दीजिए जिसमें मेरा कुटुम्ब पल सके, जिससे न मैं ही भूखा रहूँ न मेरे द्वार पर आया हुआ साधु ही भूखा लौट कर जाय ।

इन सभी प्रार्थनाओंकी महत्ताके सम्बन्धमें छात्रोंसे प्रश्न करके स्वयं इनसे यह परिणाम निकलवाया जा सकता है कि वास्तवमें सबसे अधिक उदात्त प्रार्थना किसकी है? एक तो छे वस्तुएँ मांगता है, एक नित्यके लिये रोटी चाहता है, परिवारके एक अपने और साधुके पोषणकी व्यवस्था चाहता है और एक ऐसा भी है जो कहता है मुझे कुछ नहीं चाहिए । मैं केवल दीन दुखियोंकी सहायतामें ही अपना शरीर और समय लगा देना चाहता हूँ । इतनी तुलना ही संस्कृतके कविकी प्रार्थनाका महत्व छात्रोंके हृदयपर मुद्रित करनेके लिये पर्याप्त है ।

तुलनात्मक विषयों तथा भक्ति और नीतिकी रचनाओंके शिक्षणमें तुलना-प्रणाली अवश्य प्रयोगमें लानी चाहिए ।

७. समीक्षा-प्रणालीमें काव्यकी आलोचनाके सिद्धान्त बतला दिए जाते हैं; सहायक पुस्तकोंके नाम दे दिए जाते हैं और उनके अनुसार विद्यार्थी समष्टि रूपसे एक कविकी रचनाओंकी अथवा उसकी किसी कविताकी समीक्षा करते हैं अर्थात् उसकी भाषा-शैली और भाव-व्यञ्जना-शैलीकी विशेषताओंका अध्ययन करते हैं और उसका रस या आनन्द लेते हैं। इसमें प्रश्नोत्तर-विधि तथा तुलना-विधिका आश्रय लेकर अध्यापक भी कक्षामें समीक्षा करा सकता है। यह प्रणाली ऊँची कक्षाओंमें ही प्रयोगमें लानी चाहिए जब विद्यार्थियोंको समीक्षाके सिद्धान्तोंसे पर्याप्त परिचय हो चुका हो।

पद्य तथा कविता पढ़ानेकी प्रणालियोंका विवेचन कर चुकनेपर पद्य तथा कविताके पाठन-क्रमपर भी ध्यान देना उचित होगा। पाठनक्रम इस प्रकार होना चाहिए—

१. प्रस्तावना—यदि केवल पद्य हो तो उसके विषयका परिचय उसी प्रकार दिया जाय जिस प्रकार गद्यके किसी पाठका। इसका पीछे विवेचन हो चुका है। यदि प्रबन्ध-काव्य अथवा मुक्तक कविता हो तो कविका सामान्य परिचय, उसकी शैली, उसके सिद्धान्त, उद्देश्य तथा उसकी विशेषताओंका संक्षिप्त परिचय देना चाहिए।

२. विषय-प्रवेश—परिचयके पश्चात् अध्यापकको चाहिए कि वह लयसहित ( रागसहित नहीं ) तथा भावयुक्त पाठ करे। पाठ करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि एक दिनके पढ़ाने योग्य पूरी कविता एक साथ पढ़नी चाहिए। वाणीके उतार-चढ़ाव तथा भाव-प्रदर्शन द्वारा कविता-पाठ ऐसा सजीव होना चाहिए कि उसका अर्थ पढ़ते समय ही प्रकट हो जाय। कविता-पाठके समय

विद्यार्थी अपने अध्यापककी ओर देखें पुस्तककी ओर नहीं। जब अध्यापक पढ़ चुके तो एक या दो सुरीले स्वरवाले विद्यार्थियोंसे अलग-अलग पढ़वाना चाहिए और यथा-संभव एक-एक पंक्ति स्वयं पढ़कर अध्यापक उसकी सस्वर पुनरावृत्ति पूरी कक्षासे करावे।

३. आत्मीकरण—सस्वर पढ़ना समाप्त होनेके पश्चात् ऊपर दी हुई प्रणालियोंमें उपर्युक्त प्रणालीके द्वारा विस्तृत व्याख्या की जाय।

४. पुनरावृत्ति—उसका भाव आवृत्तिके लिये विद्यार्थियोंसे अलग अलग कहला लिया जाय। फिर सस्वर पाठ कराया जाय।

५. प्रयोग—विद्यार्थियोंसे कविता तथा अन्य पाठन-कालमें प्रयुक्त हुई तथा उदाहरण-स्वरूप दी हुई सूक्तियाँ तथा कविताओंको कंठाग्र करनेके लिये आदेश दिया जाय।

इसके अतिरिक्त कुछ और बातें हैं जो पद्य तथा कविता-के अध्यापकको स्मरण रखनी चाहिएँ—

१. बेसुरे बालकोंसे कविता नहीं पढ़वानी चाहिए और यदि अध्यापक स्वयं बेसुरा हो तो उसे आदर्श पाठ स्वयं नहीं करना चाहिए, बालकोंसे कराना चाहिए।

२. श्यामपट्टका प्रयोग यथासंभव कम करना चाहिए।

३. प्रश्नोत्तर-विधिका कमसे कम प्रयोग हो।

अन्य शिक्षा-विधियोंका प्रयोग उसी प्रकार करना चाहिए जैसे गद्यमें किया जाता है और जिसकी व्याख्या पीछे की जा चुकी है।

---

# काव्यमें रुचि उत्पन्न करनेके अन्य साधन

## कविता-पाठ

कविता-पाठ, अंत्याक्षरी तथा समस्यापूर्त्ति आदिके सहयोगसे मातृभाषाकी पूर्ण शिक्षा दी जा सकती है। अन्यत्र कविताकी परिभाषा बतलाते हुए यह कहा गया है कि कविता ललित कला होनेके कारण हमारा मनोरञ्जन करनेके साथ-साथ हमारे मनोभावोंका परिष्कार भी करती है। वास्तविक शिक्षाका उद्देश्य भी सचमुच यही है। केवल लिखना-पढ़ना सिखा देनेसे ही शिक्षाका महान् उद्देश्य पूरा नहीं होता। उस शिक्षासे क्या लाभ जो हमारी उदात्त वृत्तियोंको उत्तेजन और प्रोत्साहन न दे सके, जिससे मानवकी मानवता सजग न हो, आदमीमें आदमियत न आवे। परिश्रम करनेपर कुत्ते और तोते भी पढ़ना सीख लेते हैं। किसी उर्दू कविके कथनानुसार—

आदमीयत और शै है इल्म है कुछ और चीज़।
लाख तोतेको पढ़ाया फिर भी हैवाँ ही रहा॥

कहनेका तात्पर्य्य यह कि शिक्षाका एक महान् उद्देश्य आदमीको आदमी बनाना भी है। इधर कविताका भी उद्देश्य यही है। ऐसी अवस्थामें समान उद्देश्यवाली दो वस्तुएँ परस्पर एक दूसरेकी कितनी सहायता कर सकती हैं इसका पता तो अनुभव और विचार करनेसे ही लग

सकता है। सुन्दर कविताका पारायण मनको प्रसन्न कर देता है। अवसरके अनुकूल कविताका उद्धरण जादूका काम करता पाया गया है। काव्य-रसमें ही यह शक्ति है कि बड़े बड़े पाषाण-हृदयोंको भी वह क्षण भरमें गला दे। दुर्धर्ष ईरानी दस्यु नादिरशाह जिस समय दिल्लीमें खूनकी होली खेल रहा था उस समय कविता ही उसे कुकृत्यसे विरत कर सकी थी। माहम्मदशाह रंगीलेके वजीरने एक शेर सुनाकर उस पत्थरको पानी कर दिया—

'कसे न माँद कि दीगर बतेगे नाज़ कुशी।'

इन पंक्तियोंने वह काम कर दिखाया जो बड़े बड़े राज-नीति-विशारद न कर सके। इनके साथ ही पद्यात्मक सूक्तियोंमें जीवनके गम्भीर तत्त्व भी बराबर पाए जाते हैं। वृन्द और रहीमके दोहे जीवनकी मार्मिक अनुभूतियोंसे लबालब भरे हैं। उनका अवसरोपयोगी प्रयोग लोगोंकी दृष्टिमें प्रयोक्ता-को कुछ ऊँचा उठा देता है। उपर्युक्त पद्य दृष्टान्त रूपसे उद्धृत होकर निरर्थकसे निरर्थक वक्तव्यको भी सशक्त कर देते हैं। शिक्षित और अशिक्षित दोनों पर उनका समान प्रभाव पड़ता है। सभाचातुर्य्य तो कविताका आश्रय लिए बिना आ ही नहीं सकता। व्यावहारिक जीवनमें प्रत्युत्पन्न-मतित्वका स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। कविता-का अध्ययन और अभ्यास इस क्षेत्रमें कमाल करता है। अशिक्षित लोग भी कविता, पद्य, सूक्ति, दृष्टान्त आदि रटकर समाजमें अच्छा सम्मानपूर्ण स्थान बना लेते हैं। उनके द्वारा लोगोंका मनोरंजन होता है और लोगों द्वारा उनका अनुरंजन। ऐसी स्थितिमें विद्यार्थियोंको कविताका अभ्यास पर्याप्त मात्रामें कराना चाहिए।

कवितामें रुचि उत्पन्न करने और अभ्यास करानेके चार साधन हैं—कवितापाठ, अंत्याक्षरी-प्रतियोगिता, समस्यापूर्त्ति और कवि-सम्मेलन।

सस्वर कविता-पाठ बहुत सुन्दर साधन है। इससे पढ़नेवालों एवं सुननेवालों दोनोंका मन प्रफुल्लित होता है। उतने समयके लिये किसी प्रकारकी चिन्ता पास नहीं फटकती। प्राचीन समयसे लेकर कुछ दिन पहले तक कवि-समाजमें पढंत और गढंत दोनों प्रथाएँ प्रचलित थीं। पढंतमें कविगण प्राचीन कवियोंकी कविताका पाठ किया करते थे और गढंतमें स्वरचित कविताओंका। किसी रस-विशेषकी कविता जब चली तब उसकी धारा जल्दी नहीं टूटती थी। सहृदय समाज उसमें डुबकियाँ लगाता था और तृप्त होता था। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रके समकालीन काशीस्थ गोपालमन्दिरके अध्यक्ष गोस्वामी जीवनलालजी महाराजके समय तक उनके द्वारा महीनेमें प्रायः दो बार ऐसे समाजोंका आयोजन हुआ करता था, जिसमें भरतपुर-नरेश जैसे संभ्रान्त व्यक्ति और लछिराम तथा बेनी जैसे प्रौढ़ कवि भाग लिया करते थे। परन्तु आधुनिक कवि-सम्मेलनोंने कई अच्छी बातोंके साथ-साथ पढंत प्रथाका भी बहिष्कार कर दिया है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि बाबा तुलसीदासके अनुसार, निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होइ अथवा अति फीका॥ सभी तुक्कड़ रोकर, गाकर, नाचकर अपनी ही तुकबन्दियोंकी पताका उड़ानेमें व्यस्त हो उठे हैं। ऐसी स्थितिमें यदि स्वरचित कविताओंके साथ-साथ पुराने सत्कवियोंके कविता-पाठका भी आयोजन कराया जाय तो कविसम्मेलनोंका भी महत्व

बढ़े और प्राचीन साहित्यका उद्धार होनेके साथ-साथ लोकरुचि भी परिमार्जित हो।

## अन्त्याक्षरी

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है पढंत-प्रथा उठ जानेपर भी हमारी पाठशालाओंमें उसे अंत्याक्षरीके रूपमें स्थान दिया गया है। बालकोंमें स्पर्द्धाकी मात्रा बहुत होती है। उनकी इस प्रवृत्तिसे लाभ उठाकर अंत्याक्षरी-विधान द्वारा उन्हें कविताएँ कंठस्थ करानेका सदुद्योग हो रहा है। इसमें बालकोंके दो दल बना दिए जाते हैं। एक दलका सदस्य किसी कविताका पाठ करता है। पाठ समाप्त होनेपर दूसरे दलका कोई सदस्य ऐसी कविता पढ़ता है जिसका प्रथम अक्षर पूर्वपठित कविताका अन्तिम अक्षर होता है। इस प्रकार उभय दलके लोग बराबर कविता पढ़ते चलते हैं। बीचमें यदि कोई दल मनोनीत अक्षरसे कविता सुनानेमें असमर्थ हो जाता है तब दूसरे दलवाले उसी अक्षरसे प्रारम्भ होनेवाली कविता सुनाते हैं और बाजी मार ले जाते हैं। अंत्याक्षरी प्रतियोगिताके कारण इसके लिये कुछ विशेष नियम भी बन गए हैं। ढ, ण आदि अक्षरोंके लिये छूट दे दी जाती है क्योंकि इनसे प्रारम्भ होनेवाले पद्य भाषामें कम हैं। इसी प्रकार बालकोंके चरित्र-निर्माणकी दृष्टिसे अधिक शृंगार-रसात्मक कविताओंका भी निषेध कर दिया जाता है। साथ ही दोहे, सोरठे जैसे छोटे छन्दोंके पाठकी भी आज्ञा नहीं दी जाती। इसका कारण यही है कि अधिक प्रतिभा-संपन्न बालक तुरत ही दोहे या सोरठेका ढाचा बनाकर खड़ा कर लेता है। इस सम्बन्धमें यदि किसी छन्दविशेष पर रुकावट न डालकर केवल कोरे नीरस पद्यों

पर रुकावट डाली जाय तो विद्यार्थियोंको अधिक लाभ होनेकी सम्भावना है। फिर भी अंत्याक्षरी-प्रतियोगिताके कारण एक दूसरे पर विजय पानेकी कामनासे विद्यार्थी अनायास ही कविताएँ याद करनेमें उत्साह प्रकट करते हैं। यदि अध्यापक विद्यार्थीको कविताके चुनावमें आदेश और सहायता दें तो इसमें सन्देह नहीं कि विद्यार्थियोंका असीम उपकार हो।

## समस्यापूर्त्ति

प्राचीनकालसे ही समस्यापूर्त्ति कवि-प्रतिभाकी कसौटी रही है। काव्यांगोंका सम्यक् अध्ययन कर लेनेके बाद जब कविगण राज-दरबारों और धनी-मानियोंके द्वार खटखटाते थे, तब उनके स्वागतके लिये कुछ अनगढ़ समस्याएं पहलेसे तैयार रख ली जाती थीं। यदि कविजीने उसकी सद्यः सुंदर पूर्त्ति कर दी तब तो पूछना ही क्या है, कविजीके पौ बारह हो जाते थे। जब तक आश्रय-दाता जीवित रहा और कविजीसे उसकी पटरी बैठती रही तब तक उन्हें किसी प्रकारकी आर्थिक चिन्ता न करनी पड़ती थी। किन्तु यदि कविजी समस्यापूर्त्तिमें असफल रहे तो उन्हें तुरत नारियल सुपारी थमाकर धता बताया जाता था। संस्कृत कालकी यह प्रथा हिन्दीमें बहुत दिनों तक चलती रही। अब भी कहीं-कहीं कविसम्मेलनोंमें समस्याएँ दी जाती हैं। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रके कुछ समय बाद तक हिन्दी-साहित्य-जगत्में समस्यापूर्त्तियोंकी धूम थी। कविवर लछिरामका ता यहाँ तक दावा था कि —

"दीजिए समस्या मोहिं, कलम रुकै तौ कर कलम कराइए"

परन्तु मानी कवियोंने एक स्वरसे समस्यापूर्तिका मुक्त प्रतिभाके लिये बन्धनस्वरूप घोषित कर उसका सर्वथा

बहिष्कार कर दिया है। हम इस बहिष्कारके औचित्यको कुछ अंश तक मानते हुए लाटानुप्रासमें कहना चाहते हैं कि यदि प्रतिभा है तो समस्यापूर्त्ति क्या यदि प्रतिभा नहीं तो समस्यापूर्त्ति क्या। अर्थात् वास्तविक प्रतिभाके लिये कहीं कोई बन्धन नहीं है। प्रतिभावान कवि सुन्दरसे सुन्दर समस्यापूर्त्ति भी कर सकता है। हाँ, इतनी बात अवश्य कि समस्यापूर्त्ति साधारणतया काव्याभ्यासियोंके लिये ही है और इस दृष्टिसे विद्यार्थियोंको पहेली न बुझवाकर यदि समस्यापूर्त्तिका थोड़ा बहुत अभ्यास कराया जाय तो कविता के प्रति उनका प्रेम भी बढ़ेगा और उनमेंसे दो चार किसी दिन वास्तविक कवि भी हो सकेंगे।

## कवि-सम्मेलन

अब कवि-सम्मेलनों पर आइए। हमारे यहाँ आजकल कवि-सम्मेलनोंका जो रूप प्रचलित है वह उर्दू मुशायरोंका अनुकरण जान पड़ता है। संस्कृतकाल और मध्यकालमें दो कवियोंको भिड़ाकर उनका चमत्कार देखनेकी प्रथा भी प्रचलित थी। जिस प्रकार आजकल पंडितोंमें शास्त्रार्थ होता है उसी प्रकार राजदरबारोंमें कविगण कविता-विषयक शास्त्रार्थ किया करते थे। रस, अलंकार आदिके सिद्धान्तों पर वे वादविवादका खंडन-मंडन किया करते थे। पर कवि-सम्मेलनोंका जो वर्त्तमान रूप है वह उस समय कदापि न था। वर्तमान कवि-सम्मेलनोंमें सबसे खटकनेवाली वस्तु यही है कि वहाँ—

"खटियाका टूटा बाध है। मेरा क्या अपराध है।"

—जैसे तुकबन्दियोंसे लेकर वास्तविक कविताओं तक अंधेरनगरीवाले भावसे सुननेको मिलती हैं। तीन-चार

घण्टे समय रहता है, और तीस चालीस पढ़नेवाले। परिणाम यह होता है कि सफलता काव्यकलासे हटकर गलेबाजीमें आ जाती है प्रत्येक कविके पक्षपाती व्यर्थ ही आसमान सिर पर उठा लेते हैं और ऐसा हल्ला होता है कि कविता सुंदरीको मैदान छोड़कर भाग जाना पड़ता है। अधिकांश कविताओंका भाव एकदम अस्पष्ट होता है। भावका रहस्यवाद भाषापर उतर आता है और कविगण जब एक-एक पंक्ति पर ब्रह्म उतारने लगते हैं तब उसका वास्तविक अर्थ उन्हींकी समझमें नहीं आता। श्रोता बेचारे तो कविता खाक समझते हैं, हाँ, गलेबाजीपर मुग्ध होकर बीच-बीचमें वाह-वाह कर दिया करते हैं। दूसरी ओर कुछ कविताएँ इतनी स्पष्ट होती हैं कि श्रोता यह विचार करने लगता है कि यह गद्य है या पद्य। इसके साथ ही वर्त्तमान कवि-सम्मेलनोंमें एक प्रकारकी निर्वसन कविताएँ भी सुननेमें आती हैं जिन्हें सुनकर स्त्रियोंके कर्णमूल और विचारशील पुरुषोंकी आँखे लाल हो जाती हैं, पर यह साहस किसीका नहीं होता कि कविजी के गाल लाल कर दें। हिन्दीके ये वाममार्गी कवि नायिका-भेदवाले कवियोंके भी कान काट लेते हैं। इन्हें स्कूलोंसे दूर ही रहना चाहिए।

इन सब बातोंपर विचार करते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन कवि-सम्मेलनोंसे न तो जनताका लाभ है और न विद्यार्थियोंका। इनके स्थानपर स्कूलोंमें उत्कृष्ट कवियोंको निमन्त्रितकर उनके कविता-पाठका आयोजन कराना चाहिए और विद्यार्थी-कवियोंको भी उसमें अपनी रचना सुनानेकी अनुमति देनी चाहिए जिससे उनका कवितामें प्रेम बढ़े।

---

# नाटक पढ़ानेके उद्देश्य तथा उसकी शिक्षण-विधि

"अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् ।"

महामुनि नाट्याचार्य भरतके मतानुसार अवस्थाओंके अनुकरणको नाटक कहते हैं। अवस्थासे तात्पर्य है मानव-जीवनकी वे विभिन्न परिस्थितियाँ जिनमेंसे होकर मनुष्य-को अपनी नौका खेनी पड़ती है। मनुष्य ही राजा होता है, वही रंक, वही वीर, वही कायर। मनुष्य ही स्वामी और सेवक दोनों होता है। मनुष्य ही न्यायाधीशकी कुरसी पर बैठता है और उसीके आज्ञानुसार मनुष्य ही जेलकी चक्की पीसता है, सजा काटता है और फाँसी पड़ता है। इन्हीं मानव-जीवनकी घटनाओंके व्यवस्थित तथा नियमित अनुकरणको नाटक कहते हैं। हम जो नहीं हैं वही बनकर जब हम अपनी वेष-भूषा, वाणी और आचरणसे दूसरोंको अपनी आरोपित अवस्थाका विश्वास दिला देते हैं और वह जब असलको नकल और नकलको असल समझने लगता है, तभी हमारा अभिनय सफल माना जाता है। दर्शकको केवल धोखेमें डालनेसे नाट्यकलाके उद्देश्यकी पूर्त्ति नहीं होती। नाट्यकलाकी चरम सफलता तब है जब दर्शकका धोखा विश्वास बन जाय।

यद्यपि हमारे पूर्वजोंको नाट्यकलाकी उपयोगिताका पूरा-पूरा पता था और उन्होंने अपने अध्यवसायसे इस

कलाको बहुत अधिक उन्नत अवस्थामें पहुँचाया तथापि हिन्दू-शासनके साथ-साथ इस कलाका भी विनाश हो गया।

इधर अँगरेजी शासन-कालमें इस कलाका पुनर्विकाश भली घड़ी नहीं हुआ। शकुन्तला लिखनेवाली जाति इन्दर-सभा और गुल-बकावलीसे संतुष्ट होने लगी। परिणाम यह हुआ कि हम नाट्यकलाका उद्देश्य भूल गए, उसका उपयोग भूल गए तथा शिक्षात्मक प्रयोग भूल गए। किन्तु अब वह समय नहीं रहा। नाटक केवल तमाशेकी चीज न रहकर हमारी शिक्षामें भी प्रमुख भाग लेनेकी योग्यताका दावा करने लगा है और हिन्दू विश्वविद्यालयके टीचर्स ट्रेनिंग कालेजमें वहाँके प्रिंसिपल श्री हरिकृष्णदास बूलचन्द मलकानीजी की प्रेरणासे, प्रसिद्ध नाटककार विद्वान् तथा शिक्षाशास्त्री पंडित सीताराम चतुर्वेदीके उद्योगसे और काशीके प्रसिद्ध विद्वान्, लेखक तथा अभिनेता पंडित करुणापति त्रिपाठी, पंडित शिवप्रसाद मिश्र तथा पंडित मुकुन्ददेव शर्माके सहयोगसे हिन्दीकी सर्वप्रथम शुद्ध भारतीय ढंगकी रंगशालाकी स्थापना अनन्त चतुर्दशी संवत् १९९९ को हुई जिसका नाम रक्खा गया अभिनव रंगशाला। यही एक मात्र ऐसी रंगशाला है जिसमें हिन्दी साहित्यके विचक्षण विद्वान् और विदुषी, कवि और कवयित्री, लेखक और लेखिकाओंने नाटकोंकी भूमिकाएँ ग्रहण की हैं। इसी रंगशालाकी यह विशेषता रही है कि ट्रेनिंग कौलेजके परीक्षार्थियोंने नाट्य-प्रणालीसे अर्थात् रंगशालापर नाटक कराकर अपनी वार्षिक परीक्षाका पाठ पढ़ाया और उसमें सफलता पाई।

नाटकके चाहे जो उद्देश्य हों किन्तु स्कूलोंमें नाटक पढ़ानेके तीन उद्देश्य हैं।

१. अवसर अनुकूल आचरण करना सिखाना।

२. मानव-स्वभाव और मानव-चरित्रका अध्ययन कराना।

३. सम्यक् रीतिसे उच्चारण करने, बोलने अभिनय करने तथा भावोंको व्यक्त करनेकी कलाका ज्ञान कराना। तीनों उद्देश्योंकी पूर्त्तिसे विद्यार्थीको पाँच लाभ होते हैं—

१—उनका भाषा-ज्ञान बढ़ता है। उन्हें अवसरके उपयुक्त भाषा प्रयोग करनेका ढङ्ग आता है। किस परिस्थितिमें, किस प्रकारकी बातें करनेसे कैसा प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है इस बातका ज्ञान हो जाता है। नाटकमें जीवनकी सभी परिस्थितियोंका अनुकरण होता है अतः विद्यार्थी यह ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि अमुक प्रकारका संभाषण विपत्तिमें डाल सकता है या कार्य्य सिद्ध कर सकता है। उन्हें पद तथा मर्य्यादाके अनुसार सम्बोधित करनेका ज्ञान भी नाट्यकलाकी शिक्षा द्वारा आ जाता है। माँ, बाप, भाई तथा परिवारके लोगोंको निर्देश करनेवाले शब्दोंको हम जिस अनुकरणवाली रीतिसे सीखते हैं वही रीति हमें, राजा, महाराजा, उच्चपदाधिकारी तथा अन्य लोगोंको निर्देश किए जानेवाले शब्दों और ढंगोंकी भी शिक्षा देती है। विकासोन्मुख भाषा होनेके कारण हिन्दीमें अभी इस प्रकारके संबोधन निश्चित नहीं हुए हैं पर संस्कृत जैसी पूर्णताप्राप्त भाषाओंमें, निर्देशक, निर्दिष्ट और निर्देशवचन सुनिश्चित हैं। जैसे—मुनि, सखी, दासी, चेटी आदिके लिये क्रमशः भगवान्, हला, हंजे, हंडे, आदि।

२—नाटकके द्वारा उन्हें लौकिक और घरेलू आचार

व्यवहार आदिकी सम्यक् शिक्षा मिलती है। राजदरबारके दृश्यका अभिनय उन्हें यह सिखाता है कि ऐसे स्थलों पर किस प्रकार शील-व्यवहार बरतना चाहिए। नाटकोंमें हम इस प्रकारके विशेष दृश्योंकी अवतारणा कर सभासमिति विषयक अनुशासनकी शिक्षा भली-भाँति दे सकते हैं। हमारे यहाँ उत्तर भारतमें प्रति वर्ष रामलीलाके नामसे नाटकका "नाट्य" रचा जाता है। सब जगह मिलाकर करोड़ों मनुष्य, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध और वयस्क रामलीला देखते हैं और निःसन्देह उनमेंसे अनेक घरेलू आचार-व्यवहारकी आदर्श शिक्षा पाते हैं जिसके संस्कारसे अभी तक हिन्दू घरोंमें सीता, लक्ष्मण और भरतकी कमी नहीं है।

३—नाटकों द्वारा वे यह भी सीखते हैं कि किसी गम्भीर परिस्थितिको किस प्रकार हलकी करने के साधन जुटाने चाहिएँ अर्थात् नाटकसे व्यवहार-कुशलता भी आ जाती है। जीवनमें ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब कि गम्भीरसे गम्भीर बात चतुरतासे अनायास ही उड़ाई जा सकती है।

४—विभिन्न प्रकारके मनुष्योंकी गतिविधियोंको नाटकमें देखकर तथा उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके विद्यार्थी अपने समाजके मनुष्योंको पहचाननेके योग्य हो जाते हैं। कुटिल व्यक्तियोंसे किस प्रकार अपनी तथा समाजकी रक्षा करनी चाहिए तथा शिष्ट पुरुषोंसे किस प्रकार सम्पर्क बढ़ाना चाहिए इसका ज्ञान हो जाता है।

५—नाटककी शिक्षा विद्यार्थियोंको सार्वजनिक वक्ता तथा सार्वजनिक जीवनमें सफल बना सकती है। उन्हें इतनी शक्ति दे देती है कि वे जनसमूहको जब चाहे हँसा दें, जब चाहे रुला दें।

## पाठन-प्रणाली

नाटक पढ़ानेकी चार रीतियाँ हैं।

१—प्रयोग-प्रणाली—अर्थात् नियमित रूपसे रंगमंच पर अभिनय-प्रयोग-द्वारा नाटकका दृश्य ज्ञान कराया जाय।

२—आदर्श नाट्य-प्रणाली—अर्थात् नाटकके सभी चरित्रोंका अभिनय अध्यापक स्वयं ही करे। वह नाटकको इस प्रकार कक्षामें पढ़े कि प्रत्येक चरित्रकी वाणी तथा उसके भाव आदिका आभास उसके उच्चारणकी अनेक-रूपतासे मिलता जाय। अर्थात् अध्यापक शब्दोंका अर्थ न करे वरन् नाटक-गत संवादोंके उचित वाचिक तथा आंगिक अभिनयके द्वारा क्रोध, प्रेम, घृणा आदि भावोंका नाट्य करे।

३—कक्षाभिनय-प्रणाली—अर्थात् कक्षाके विद्यार्थियोंको नाटकमें आए हुए चरित्रोंकी भूमिका दे दी जाय। उनसे कहा जाय कि तुम अमुक पात्र हो और तुम अमुक। इस प्रकार जिस विद्यार्थीका जो चरित्र निर्धारित किया गया हो वही उस चरित्रके संवादको भावपूर्वक पढ़े तथा तद-नुकूल अभिनय करे।

४—व्याख्या-प्रणाली—अर्थात् कथावस्तुका निर्माण, चरित्र-चित्रण, विचारोंकी सुन्दरता, पात्रोंके चरित्रोंके विश्लेषण, भाषाके प्रयोग आदिपर प्रश्न करके नाटककी विशेषताएँ बताई जायँ। इन्हीं विषयोंपर दृश्यकी पुनरावृत्ति करते समय प्रश्न भी किए जायँ।

## नाटकका पाठन-क्रम

पाठ्य-ग्रन्थमें निर्धारित संवादों तथा नाटकोंको कक्षामें पढ़ानेके लिये यह चाहिए कि एक घंटेमें पढ़ानेके लिये एक

अङ्क, एक दृश्य या एक पूरा संवाद लिया जाय जो उतने समयमें पढ़ाया जा सके। उसे इस क्रमसे पढ़ाना चाहिए।

१. परिचय—नाटककारका परिचय दिया जाय, किन्तु पाठके विषयके परिचयके समान नाटक या संवादके विषयका परिचय न दिया जाय अन्यथा कथाका कुतूहल नष्ट हो जायगा और उसके साथ ही नाटक भी अधमरा हो जायगा।

२. विषय-प्रवेश—अध्यापक उस दिनके निर्दिष्ट पाठ्य अंक या दृश्यको इस प्रकार पढ़े मानो वह रंगमंच पर खड़ा हुआ सब पात्रोंके पाठ कह रहा हो। यह ध्यान रहे कि पढ़ते समय केवल वाचिक तथा सात्त्विक अभिनय तो हो अर्थात् वाणीके उतार-चढ़ावसे विभिन्न भाव प्रकट होते चलें किन्तु आंगिक अभिनय न हो अर्थात् हाथ पैर न चलें।

३. अनुकरण यह दो प्रकारसे हो सकता है। एक तो कक्षा-भिनय-प्रणालीसे अर्थात् कक्षाके विद्यार्थियोंमें से नाटकके पात्रोंकी संख्याके अनुसार छाँट ले और फिर उनको भिन्न-भिन्न पात्रोंकी भूमिका देकर उनसे उन उन पात्रोंके संवाद कहलवावें।

दूसरे भाव-प्रकाशन-प्रणाली द्वारा अर्थात् स्वय अध्यापक पुस्तक लेकर या स्मृतिसे पूरे दृश्यका आंगिक, सात्त्विक तथा वाचिक अभिनय करे या ऐसा कर सकता है कि एक विद्यार्थी पढ़ता जाय और अध्यापक उसके आंगिक तथा सात्त्विक भावोंका नाट्य करता जाय।

४. आवृत्ति—दृश्यका अभिनय हो जानेके पश्चात् अध्यापकको चाहिए कि इस प्रकारके प्रश्न करे—

( अ ) कौन सा चरित्र अच्छा या बुरा है, क्यों उनके गुण-अवगुण नाटककारने किस प्रकार प्रकट किए हैं।

(आ) किस पात्रकी बातें तुम्हें ठीक जँचती हैं। क्यों।

( इ ) किस पात्रकी बातें रुचिकर प्रतीत होती हैं। क्यों।

( ई ) इस दृश्यमें आई हुई घटनाओंका अमुक पात्र या पात्रों तथा कथापर क्या प्रभाव होगा। तात्पर्य यह है कि प्रश्न ऐसे हों जिनसे चरित्र-चित्रणकी मीमांसा हो, कथाके प्रसारका ज्ञान हो, कल्पनाशक्ति तथा विवेचना-शक्तिकी वृद्धि हो। इसी अवस्थामें छात्रोंसे यह भी पूछा जा सकता है कि छोटों, बड़ों, राजाओं आदिसे किस प्रकार बातें करनी चाहिएँ अथवा अमुक परि-स्थितिमें अमुक पात्रने अमुक प्रकारका व्यवहार किया, तुम होते तो क्या करते, इत्यादि। अर्थात् उस दृश्यसे जो व्यावहारिक शिक्षा दी जा सके उसका स्पष्ट विधान करना चाहिए।

५. ज्ञातव्य—यदि नाटक या संवादके विषयमें अध्यापक कुछ ऐतिहासिक बातें बताना चाहे या भाषाके दोषगुण बताना अथवा अन्य विशेष बातें बताना चाहे तो उसे अन्तमें बता देनी चाहिए। ये बातें बीचमें लाकर नहीं डालनी चाहिए।

वास्तवमें नाटक-शिक्षाकी सर्वश्रेष्ठ प्रणाली तो यह है कि उसका रंगमंच पर अभिनय किया जाय। उसके सब तत्त्व छात्र स्वयं देखकर जान लेंगे या उसके आधार पर ये तत्त्व सरलतासे सिखाए जा सकेंगे।

कुछ लोग पूछेंगे कि नाटकमें आए गीतोंको कक्षामें कैसे पढ़ावें। इस संबंधमें यह स्मरण रखना चाहिए कि गीत आदिको कविताके समान अलग पढ़ाना चाहिए और यदि कोई गद्यांश कठिन हो तो उसे भी गद्यके समान अलग पहले

पढ़ा देना चाहिए। नाटक पढ़ानेके समय अर्थ, व्युत्पत्ति, व्याख्या आदिकी छायाका भी स्पर्श न होने देना चाहिए।

अभी तक किसी भी शिक्षा-शास्त्रीने नाटक या संवादकी शिक्षाका विधान अपनी शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकोंमें नहीं दिया है। यहाँ तक कि अँगरेजी पाठ्य-प्रणालीके ग्रंथोंमें भी इने-गिने ग्रंथ हैं जिनमें नाटक-शिक्षणका विधान है। नाटक शिक्षाका क्रम हिन्दीमें अव्यवस्थित होनेके कारण ही हमने यह प्रकरण यहाँ दे देना आवश्यक समझा है।

---

## अनुवाद-शिक्षाके उद्देश्य तथा उसकी व्यवस्था

किसी भाषामें व्यक्त भावों और विचारोंको दूसरी भाषामें व्यक्त करनेकी क्रिया अनुवाद कहलाती है। यद्यपि कुछ लोग भ्रमवश मौलिक रचनाकी अपेक्षा अनुवाद-कार्यको अत्यन्त सरल समझते हैं तथापि तथ्य इसका बिलकुल उलटा है। मौलिक रचनामें अपने विचार अपनी भाषामें अनायास ही व्यक्त किए जा सकते हैं परन्तु दूसरी भाषामें व्यक्त किया हुआ दूसरेका भाव अपनी भाषा या अन्य भाषामें ठीक-ठीक प्रकट करना बड़ा ही कठिन काम है।

शिक्षित व्यक्तियोंको अपने जीवनमें अनुवादकी आवश्यकता बराबर पड़ा करती है। इसलिये हमारे शिक्षाक्रममें अनुवादशिक्षाकी सुव्यवस्थाका होना आवश्यक है।

अनुवादके तीन उद्देश्य होते हैं।

१—दूसरी भाषाके साहित्यसे अपनी भाषाके साहित्यको समृद्ध करना। अपना साहित्य तभी पूर्णता प्राप्त कर सकता है जब अन्य भाषाओंकी साहित्यिक गति-विधिका परिचय अपने यहाँके लोगोंको बराबर मिलता रहे।

२— अन्य भाषाओंकी शैलियों, मुहावरों आदिका ज्ञान प्राप्त करना।

३—विचार-विनिमयकी योग्यता उत्पन्न करना।

अपने यहाँ शिक्षा-व्यवस्था बेढंगी होनेके कारण स्वयं अपनी मातृभाषामें न तो रुचि ही उत्पन्न होती है और न

सम्यक योग्यता ही। यहाँ तीन-चार भाषाएँ जाननेवाला व्यक्ति कातुकालयकी वस्तु हो जाता है। पर विदेशोंमें ऐसे-ऐसे व्यक्ति हैं जो सौ-डेढ़ सा भाषाओंके जानकार हाते हुए भी नित्य नई भाषा सीखनेका उद्योग करते ही रहते हैं। साधारण शिक्षा-प्राप्त अँगरेज भी अपनी मातृभाषा अँगरेजी के अतिरिक्त कमसे कम यूरोपकी दो-चार भाषाओंको जानना आवश्यक समझता है। संस्कृतके अध्यापकको भी कमसे कम राष्ट्रभाषा और मातृभाषा तो जाननी ही चाहिए। इसके साथ संस्कृतके अध्यापकको प्राकृतों और अपभ्रंशोंका भी पूरा ज्ञान होना चाहिए क्योंकि इनके बिना वह संस्कृत नाटकोंका रस न स्वयं ले सकता है न छात्रोंको दे सकता है।

अपनी भाषाके साथ दूसरी भाषाकी शिक्षा आरंभ होते ही अनुवाद शिक्षाका काम आरंभ हो जाता है और यही होना भी चाहिए।

अनुवादका अभ्यास तीन प्रकारसे कराया जा सकता है। सर्व प्रथम दुभाषिया शैलीसे। इस पद्धतिमें कोई कुछ कहता चले और एक व्यक्ति उसके वाक्योंका बराबर दूसरी भाषामें अनुवाद करता चले। इस पद्धतिका आश्रय ग्रहण करनेसे जल्दी जल्दी अनुवाद करनेकी योग्यता उत्पन्न होती है। दूसरी शैलीमें पुस्तक द्वारा अनुवादका अभ्यास कराया जाता है यही पुस्तक-पद्धति हमारी पाठशालाओंमें आज-कल प्रचलित है। अनुवाद सिखानेकी एक तीसरी पद्धति भी है जिसे तुलनात्मक पद्धति कहते हैं। मान लीजिए हमें संस्कृतसे नागरीमें अनुवाद करना है तो विद्यार्थीको पहले नागरी अनुवाद दे देना चाहिए। जब वह उसे पढ़ ले तब उसे वह संस्कृत अंश देकर अनुवाद करनेको कहना चाहिए।

अनुवाद करनेकी तीन शैलियाँ प्रचलित हैं। पहली शैली अविकल या शब्दशः अनुवादकी है। इसमें मक्षिका स्थाने मक्षिका न्यायसे शब्दोंके स्थानपर उसी अर्थका द्योतक दूसरी भाषाका शब्द रखते चलते हैं। इस शैलीकी जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। इसमें पग-पगपर अर्थके अनर्थ होनेकी संभावना रहती है। उदाहरणके लिये संस्कृतका एक वाक्य ले लीजिए—'स्थानं निर्मक्षिकं कृतं भवता।' यदि इसका शाब्दिक नागरी अनुवाद करें तो यह होगा—'आपने यहाँकी सब मक्खियाँ उड़ा दीं।' इसका क्या अर्थ होगा यह आपही विचार करें। अतः यह शैली सर्वथा त्याज्य है। इसी प्रकार कुछ लोग छायानुवाद और मर्मानुवाद भी करते हैं। इसमें सर्व-प्रथम विचारणीय बात है कि छाया अथवा मर्मका अनुवाद हो किस प्रकार सकता है। यह तो एक प्रकारसे पाठकोंको ही नहीं बल्कि अपने आपको भी धोखा देना है। ये अनुवाद नहीं करते बल्कि उसका सारांश लिखते हैं इसीलिये अँगरेजी वाले कहते हैं कि 'अनुवाद वंचक होते हैं।' इस दृष्टिसे छायानुवाद भी भ्रष्ट वस्तु है। अनुवादका सबसे सुन्दर ढंग भावानुवाद है। अनुवादका उद्देश्य लेखककी भाषाका परिचय करना नहीं बल्कि उसके भावोंसे पाठकोंको परिचित कराना होता है। इस शैलीके द्वारा क्लिष्ट वाक्योंका सरल अनुवाद प्रस्तुत किया जा सकता है। बाणभट्टकी कादम्बरी ऐसी समास-बहुला भाषामें है कि एक-एक वाक्य तीन-तीन पन्नों तक चले गए हैं। उसके इसी बीहड़पनको देखकर किसी अँगरेज आलोचकने लिखा है कि कादम्बरी एक बीहड़ वनके समान है, उसे कितना ही काटा और छाँटा क्यों न जाय फिर भी

भय बना ही रहता है कि अब न कोई समास-रूपी सिंह झपट पड़े। ऐसे ग्रंथका शाब्दिक अनुवाद होना असंभव-सा ही है। अब केवल भावानुवादकी ही शैली बच रहती है जिसके द्वारा हम अन्य भाषा-भाषियोंको कादम्बरीके आनन्दका उचित मात्रामें अनुभव करा सकते हैं। इसके लिये एक-एक भावका अनुवाद एक-एक वाक्यमें करके हम अपनी उद्देश्यपूर्त्ति कर सकते हैं।

अरस्तूके कथनानुसार अनुवादका अनुवाद कभी न करना चाहिए क्योंकि अनुवाद करनेमें चाहे कितनी ही सावधानीसे काम क्यों न लिया जाय फिर भी लेखकके मूल भावोंकी यथा-तथ्य रक्षा प्रायः असंभव है। अनुवादसे अनुवाद करनेमें हम मूल लेखकके भावोंसे बहुत दूर पड़ जा सकते हैं।

अनुवाद करनेमें कुछ भाषा-सम्बन्धी नियमोंका पालन करना अत्यावश्यक है जैसे मूल भाव जिस शैलीमें कहा गया हो उसका अनुवाद उसी शैलीमें किया जाय। यदि मूल लेखकने मधुर शब्दोंका प्रयोग किया हो तो अनुवाद भी मधुर शब्दोंमें ही होना चाहिए। यदि मूल लेखककी शैली संगीतात्मक रही है तो अनुवादकी शैली भी संगीतात्मक ही होनी चाहिए। इसके साथ ही व्यक्ति, धर्म, संप्रदाय और जाति-सम्बन्धी भावोंका यथार्थ अनुवाद होना चाहिए अर्थात् रैमसे नामधारी व्यक्तिके लिये अनुवादमें उसका नाम रामजी न कर देना चाहिए अथवा प्रोटेस्टैण्टके लिये 'आर्यसमाजी ईसाई' प्रयोग न करना चाहिए।

---

## पाठ्य-विषयों का परस्पर सहयोग

पाठशालाओंमें एक साधारण सा नियम है कि एक अध्यापक अपने पाठ्य-विषयोंके अतिरिक्त दूसरे पाठ्य-विषयोंके सम्बन्धमें न तो प्रायः जानता ही है और न जाननेकी चेष्टा ही करता है। अपना निर्दिष्ट विषय पढ़ा चुकनेके पश्चात् उसे परम सन्तोष हो जाता है। किन्तु भाषा-शास्त्री इस व्यवहारसे संतुष्ट नहीं हैं। वे कहते हैं कि एक कक्षाके विभिन्न पाठ्य-विषयोंमें अन्योन्याश्रय संबन्ध स्थापित होना चाहिए। भाषाके अध्यापकको यह देखना चाहिए कि वह भाषा पढ़ाते समय इतिहास तथा भूगोलको भी किस प्रकार और किस समय पढ़ा सकता है। भाषाके बिना तो कोई विषय पढ़ाया या पढ़ा ही नहीं जा सकता। अतः भाषाके अध्यापकको चौकन्ने होकर सब विषयोंके योग्य भाषा-संबंधी ज्ञानका विकाश करना चाहिए।

प्रायः प्राचीन संस्कृत भाषाके आचार्य इस सहयोग-सिद्धान्तको भली भाँति जानते थे। इसीलिये उन्होंने इतिहास तथा भूगोल जैसे वर्णनात्मक विषयोंसे लेकर गणित जैसे वैज्ञानिक विषयोंको भी साहित्यके साँचेमें ढाल दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि केवल संस्कृत साहित्यका पंडित शास्त्रों, वेदांगों तथा भारतीय वैज्ञानिक प्रयोगोंसे भली भाँति परिचित है। हिन्दी साहित्यके प्राचीन कवियोंने भी यह बात ध्यानमें रक्खी है।

किन्तु इधर जो गद्यकी पुस्तकें निकल रही हैं उनमें इस प्रकारका ज्ञान रहता तो है पर हिन्दीका अध्यापक उन वैज्ञानिक प्रयोगोंकी व्याख्या करनेमें असमर्थ होता है और केवल शब्दोंका अर्थ बताकर चुप हो जाता है।

गद्यका ज्ञान मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी कभी पूरा नहीं प्राप्त हो सकता इसीलिये हमारे देशमें बहुत प्राचीन कालसे यह पद्धति सी चली आई है कि सभी विषयोंकी शिक्षा पद्यमें ही दी जाय। इस प्रणालीका सुपरिणाम यह हुआ कि क्लिष्टसे क्लिष्ट विषय पद्यके साँचेमें ढलकर विद्यार्थियोंकी जिह्वा पर नाचने लगे। गणित और आयुर्वेद जैसे विशुद्ध वैज्ञानिक विषयोंमें साहित्य और इतिहासका तथा शुद्ध साहित्यिक कृतियोंमें भूगोल जैसे विषयोंका समावेश होने लगा। इस प्रकार साहित्य और विज्ञानके पारस्परिक सहयोगसे एककी उपादेयता और दूसरेकी सुकरता बढ़ गई। प्रमाणके लिये लीलावती, वैद्यजीवन और रघुवंशको ले लीजिए।

लीलावती गणित ग्रन्थ है। उस पुस्तकमें गणित-विष-यक प्रश्न इतने सरस तथा मनोरंजक रूपसे विद्यार्थीके सामने रक्खे गए हैं कि उन्हे हल करनेके लिये विद्यार्थियों-का मन स्वयं मचल पड़ता है।

निम्नलिखित प्रश्नमें विद्यार्थी गणितके साथ इतिहास भी पढ़ता है जैसे—

पार्थः कर्णवधाय मार्गणगणं क्रुद्धो रणे संदधे।
तस्यार्द्धेन विनार्य्य तच्छरगणं मूलैश्चतुर्भिर्हयान्॥
शल्यं षड्भिरथेषुभिस्त्रिभिरपि च्छत्रं ध्वजं कार्मुकं।
चिच्छेदास्य शिरः शरेण कति ते यानर्जुनः सन्दधे॥

अर्जुनने क्रुद्ध होकर कर्णको मारनेके लिये जितने तीर चलाए उनमेंसे आधे तीरोंसे तो कर्णके तीर बचाए, शेषमेंके चार भागोंसे घोड़ोंको मारा, छः से शल्यको बेधा तीनसे छत्र, ध्वज और धनुषको काटा और एक तीरसे उसका सिर काट लिया। बताइए अर्जुनने कितने तीर चलाए। [ ६ + ३ + १ = १०; १० × ४ = ४०; १० + ४० = ५०; ( १० + ४० + ५० = १०० ) ]

गणितका यह छोटा सा प्रश्न कर्ण अर्जुन और शल्यका परिचय देनेके साथ साथ महाभारतका संक्षिप्त इतिवृत्त भी बतला देता है और युद्धके रथका भी परिचय देता है। उक्त प्रश्नके साथ अब अपने गणितके एक प्रश्नको भी मिलाइए—

अ, ब, स, ८ घंटे प्रति दिन काम करके ४८ फुट गहरा तालाब तीन दिनमें खोदते हैं। उनमेंसे प्रत्येकने कितने फुट खोदा।

वैद्यजीवन आयुर्वेदका ग्रन्थ है। इसके रचयिताका नाम लोलिम्बराज था। इन महापुरुषने अपने श्रीमुखसे स्वयं अपना परिचय देते हुए कहा है लोलिम्बराजः कविपातशाहः। इन कविराजने वैद्यक-सम्बन्धी ऐसे रसीले नुस्खे लिखे हैं जिनमें वैद्यकके साथ-साथ अपूर्व साहित्यिक सम्मिश्रणसे अद्भुत रसायनका स्वाद मिलता है।

जीर्ण कफ ज्वरका एक नुस्खा देखिए—

> जीर्णज्वरं कफकृतं कणया समेत-
> श्छिन्नोद्भवोद्भव कषायक एष हन्ति।
> रामो दशास्यमिव राम इव प्रलम्बं
> रामो यथा समर मूर्द्धनि कार्तवीर्य्यम्॥

गिलोयके क्वाथ तथा पीपलके चूर्णका सेवन जीर्ण

कफज्वरका नाश उसी प्रकार करता है जैसे रामने रावण-का, बलरामने प्रलम्बका और परशुरामने कार्तवीर्य्यका नाश किया था। इस नुस्खेमें तीन अवतारोंका इतिहास भी निहित है।

आजकल दिल्ली, जयपुर या कराचीसे लन्दन तक हवाई जहाजसे यात्रा करनेवाले लोग मार्गमें आनेवाले शहरोंका प्रायः वर्णन किया करते हैं। परन्तु वे वर्णन इतने नीरस और निष्प्राण होते हैं कि पाठकोंको बिलकुल नहीं रुचते। परन्तु इसके सर्वथा विपरीत कविकुलगुरु कालि-दासने अपनी कल्पनाके बल पर लंकासे अयोध्या तक भौगोलिक दृष्टिसे इतना सटीक और सजीव वर्णन किया है जो देखते ही बनता है। फिर भी जिस पुस्तकमें यह भौगोलिक वर्णन आया है वह भूगोलकी नहीं बल्कि साहि-त्यकी पुस्तक है, काव्य है। लंका विजय करके श्रीरामचन्द्र-जी सीताजीके साथ पुष्पक विमान पर चढ़कर अयोध्या लौट रहे हैं। जान पड़ता है मानो वास्तवमें लंकासे अयोध्या तक सीधा वायुयान चला आ रहा है और विमानकी गतिके साथ वर्णनकी गति भी चलती है। श्रीरामजी मार्गमें आए ऐतिहासिक स्थानोंका वर्णन देते हैं, समुद्र तथा नदियोंका परिचय देते हैं। साथ ही आकाशमें वायुयान द्वारा चलते हुए मेघ और विद्युत्का क्या अनुभव होता है वह भी कविकी दृष्टिसे छिपा नहीं है।

यह सब कहनेका तात्पर्य्य यही है कि प्राचीन भारतीय विद्वान् भी यह भली भाँति जानते थे कि विविध ज्ञान परस्पर अन्योन्याश्रित हैं और एक विषय पढ़ाते हुए दूसरे विषयका समावेश भी उसमें किया ही जाना चाहिए।

यह तो हुई ऐसी पुस्तकोंकी बात जिनमें साहित्य, विज्ञान, इतिहास, भूगोल आदिका एक साथ समावेश किया गया है। अब हमें यह विचार करना है कि भाषाका अध्यापक किस प्रकार अन्य विषयोंके अध्यापकों तथा विषयोंसे सहयोग प्राप्त कर सकता है।

१. भाषा तथा इतिहास—पाठ्य-पुस्तकमें आई हुई ऐतिहासिक घटनाओं का तथा महापुरुषोंके जीवन-चरितोंका विस्तृत ज्ञान इतिहासके अध्यापक द्वारा दिलाया जाय अथवा विद्यार्थियोंको ही इतिहासकी सरल तथा प्रामाणिक पुस्तकोंको पढ़नेके लिये कहा जाय। जब वे पढ़कर आवें तब उनसे कुछ ऐसे प्रश्न लिखवाने चाहिएँ जिनका इतिहास संबन्धी तथ्य इतिहासका अध्यापक देख ले तथा भाषाकी जाँच भाषाका अध्यापक कर ले। इसी प्रकार इतिहासका अध्यापक जो इतिहास-संबंधी लेख लिखनेको दे उसकी भाषाकी परीक्षा भाषाके अध्यापकसे करा ले।

२. भाषा तथा विज्ञान—वैज्ञानिक विषयोंमें भौतिक तथा रासायनिक विज्ञान, प्रकृति-विज्ञान, भूगोल, गणित आदि विषय पढ़ाए जाते हैं। भाषाकी पाठ्य-पुस्तकोंमें भी ऐसे विषयोंके पाठ रहते हैं। भाषाके अध्यापकका कर्त्तव्य है कि वह यदि उन विषयोंसे अनभिज्ञ हो तो उस विषयके अध्यापककी सहायता लेकर उनसे पहले उस विषयका प्रयोगात्मक तथा विस्तृत ज्ञान विद्यार्थियोंको करावे और भाषा-संबंधी ज्ञान स्वयं दे साथ ही कवि-वर्णित प्रकृति-वर्णन तथा वैज्ञानिक द्वारा वर्णित प्रकृति-वर्णनका तारतम्य, उनके निरीक्षणका अन्तर, उनके प्रयोगोंके भेद आदिको समझा दे। उस विज्ञानका ज्ञान पूरा करनेके लिए उन्हें विभिन्न विज्ञानोंकी

प्रयोगशालामें भेज देना चाहिए जिससे वे अर्जित ज्ञानकी यथार्थता जान सकें।

३. भाषा तथा कला—जो बात विज्ञानके संबन्धमें कही गई है वही कलाके लिये भी लागू है। हमारी पाठ्य-पुस्तकोंमें चित्रकला, संगीतकला, मूर्त्तिकला, कुश्ती, पटा आदि पर भी कभी-कभी पाठ होते हैं। जो उस कलाके शिक्षक हों उनसे उस विषयका प्रयोगात्मक अथवा व्यावहारिक ज्ञान करा देना चाहिए और उसके पश्चात् भाषा-संबन्धी कठिनाइयोंको स्वयं दूर कर देना चाहिए। शिशुपालवधमें महती वीणा बजाते हुए नारदका वर्णन करते हुए कहा गया है—

> रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः
> पृथग्विभिन्नश्रुति मंडलैः स्वरैः।
> स्फुटीभवद्ग्रामविशेष मूर्च्छना-
> मवेक्ष्यमाणं महती मुहुर्मुहु ॥

इस श्लोकको वह अध्यापक कभी ठीक नहीं पढ़ा सकता जिसे श्रुति मंडल, स्वर, ग्राम, मूर्च्छनाका व्यावहारिक तथा शास्त्रीय ज्ञान न हो। यदि वीणा या अन्य किसी यन्त्रके सहारे यह श्लोक पढ़ाया जाय तो छात्रोंको समझनेमें तनिक भी कठिनता न हो।

इस प्रकारके पारस्परिक सहयोगसे विद्यार्थियोंका ज्ञान परिपक्व होता है, अध्यापकोंका काम हलका हो जाता है और शिक्षा भी व्यवस्थित तथा संयत हो जाती है।

---

२०

## पुस्तकालयकी व्यवस्था

पुस्तकालय मनुष्यके ज्ञान-भण्डारको पुष्ट और समृद्ध करनेके सर्वोत्कृष्ट साधन हैं। वे हमारी मानसिक तृप्ति करनेके साथ हमारा बौद्धिक भोजन भी जुटाते हैं। पुस्तकालयोंका उपयोग सदासे बढ़ी-चढ़ी सभ्यताका परिचायक माना गया है।

पुस्तक एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम घर बैठे ही सारे संसारकी सैर कर लेते हैं, सारे संसारके दर्शन, विज्ञान और साहित्यसे परिचित होते हैं, नई और पुरानी विभिन्न जातियोंकी विचार-धारा में डुबकियाँ लगाकर अनमोल मोती बटोरते हैं, हज़ारों वर्ष पहलेके महापुरुषोंकी भावनाओंका स्पष्ट परिचय प्राप्त करते हैं और इस प्रकार अपने जीवनको सरल और सुसंस्कृत बनाते हुए मस्तिष्कको पुष्ट, मनको प्रसन्न और बुद्धिको विकसित करते हैं।

यदि अध्यापकोंको हम विद्यालयका मस्तिष्क मानें तो पुस्तकालको विद्यालयकी आत्मा मानना पड़ेगी, क्योंकि अध्यापकोंकी कार्य-कुशलता बहुत कुछ पुस्तकालयकी उपयोगिता पर ही निर्भर है। जो वास्तविक अध्यापक होते हैं वे सदा पुस्तकालयोंका उपयोग करते हुए अपने ज्ञान-क्षितिजको उदार करते रहते हैं जिससे उनके विद्यार्थी भी केवल पाठ्य पुस्तकके कूप-मंडूक न रहकर मुक्त आकाशमें विचरण करनेवाले पक्षीके समान विस्तृत वसुधाकी थोड़ी बहुत जानकारी रखनेवाले हो जाते हैं।

जिस प्रकार विद्यालयकी आत्मा पुस्तकालय है उसी प्रकार पुस्तकालयका प्राण पुस्तकोंका समुचित चुनाव है। पुस्तकालयमें संसारका कूड़ा-कचरा बटोर कर रख देनेसे कोई लाभ नहीं होता। ऐसे पुस्तकालयोंसे लाभके स्थान पर हानि होनेकी ही अधिक सम्भावना रहती है। शिक्षण-संस्थाओंके पुस्तकालयोंमें जो पुस्तकें रक्खी जायँ उनमें तीन बातों पर ध्यान रखना बहुत आवश्यक है।

( १ ) विद्यालयीय पुस्तकालयमें संगृहीत पुस्तकें रुचिकर तो हों पर कुरुचिपूर्ण नहीं। उन पुस्तकोंके पठन-पाठनमें मन तो रमे पर कोई चरित्र-सम्बन्धी अवांछनीय प्रभाव न पड़ने पावे।

( २ ) विद्यालयोंमें जो पुस्तकें रक्खी जायँ वे विचार-शीलताको प्रोत्साहन देनेवाली अवश्य हों पर सर्वदा दार्शनिक न हों। उन पुस्तकोंके पठन-पाठनसे विद्यार्थीमें स्वयं सोचनेकी शक्ति तो बढ़े पर ऐसा न हो कि पुस्तक समझनेमेंही उसकी सारी शक्ति शिथिल हो जाय।

( ३ ) वे ज्ञान बढ़ानेवाली होनेके साथ-साथ सरल भी हों। उनमें ज्ञानभण्डार बढ़ानेवाले विषयोंका वर्णन सर्वग्राही तथा लोकबोधक होना चाहिए जिनसे केवल अध्यापक ही नहीं वरन् छात्र भी उचित लाभ उठा सकें।

पुस्तकोंकी प्रकृतिके अनुसार विद्यालयके पुस्तकालयके पाँच विभाग हो सकते हैं। पहलेमें उपदेशात्मक पुस्तकें हों जैसे नीतिके संग्रह, हितोपदेश, भगवद्गीता आदि। दूसरे विभागमें वे पुस्तकें हों जिनका उपयोग किसी विषयकी जानकारीके लिये ही किया जाता है और जिन्हें सहायक ग्रन्थ ( रेफ़रेन्स बुक्स ) कहते हैं। चित्र-संग्रह और

एटलस जैसी पुस्तकोंकी गणना इसी विभागमें की जा सकती है। तीसरा विभाग पाठ्यग्रन्थोंका हो। इनमें वे पुस्तकें रक्खी जायँ जो कक्षा-विशेषके लिये निर्दिष्ट हो चुकी हैं। इन पुस्तकोंका उपयोग तभी तक रहता है जब तक उनका नाम पाठ्य पुस्तकोंकी सूचीमें चढ़ा रहता है। चौथा विभाग विशेष विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकोंका हो। इस विभागमें नवीन वैज्ञानिक विषयोंपर खोजके साथ लिखी हुई पुस्तकें रक्खी जायँ। बिजली, बेतार आदि विषयों पर लिखी हुई सभी पुस्तकें इस विभागमें रक्खी जा सकती हैं। पाँचवें विभागमें मनोरंजक पोथियाँ हों। काव्य, नाटक, कहानी, यात्रा-वृत्तान्त और उपन्यास सभीकी खपत इस विभागमें हो सकती है। पुस्तकोंका संग्रह करते समय सदा स्मरण रखना चाहिए कि ऐसी कोई पुस्तक न छूट जाय जिसके न होनेसे स्कूलीय पाठ्य विषयोंके किसी अंशके पढ़ने पढ़ानेमें बाधा पड़े।

## पुस्तकोंका संग्रह

इन सब पुस्तकोंकी प्राप्तिके दो ही मार्ग हैं। पहला मार्ग तो यह है कि पुस्तकें मोल ली जायँ और दूसरा यह कि वे उपहारमें मिलें। पुस्तकें चाहे इन दोनोंमें से किसी ढंगसे मिलें परन्तु उन्हें पूर्वोक्त कसौटी पर कसनेके बाद ही पुस्तकालयमें स्थान देना चाहिए। मोल ली हुई पुस्तकोंके सम्बन्धमें तो कसौटीका प्रयोग होना स्वाभाविक है परन्तु उपहारमें मिली हुई पुस्तकोंको परखनेका प्रयत्न प्रायः लोग नहीं करते। दानकी बछियाके दाँत कौन गिनता है। पर ऐसा होना ठीक नहीं। विद्यार्थियोंके लिये जो हानिकारक

सिद्ध होती हों ऐसी पुस्तकोंका बहिष्कार करना ही श्रेयस्कर है भले ही वे बहुमूल्य हों और बिना मूल्य ही मिली हों। स्कूलोंमें पुस्तकालयके दो विभाग करने चाहिएँ। पहला विभाग सर्वसाधारणके लिये हो अर्थात् स्कूल भरके लिये एक बड़ा पुस्तकालय हो जिसका उपयोग अध्यापक तथा छात्र समान रूपसे करें। दूसरा छोटा पुस्तकालय प्रत्येक कक्षामें हो जिसका उपयोग केवल उसी कक्षाके विद्यार्थी करें।

कक्षाओंसे सम्बन्ध पुस्तकालयोंमें जो पुस्तकें रक्खी जायँ वे कक्षाके विद्यार्थियोंके अवस्थानुरूप हों। अध्यापकका यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह विद्यार्थियोंकी मानसिक अवस्थाके अनुसार पढ़नेके लिये पुस्तकें चुननेमें सहायता दे। वह इस बातका प्रयत्न करे कि विद्यार्थियोंमें अनिवार्यतः पुस्तक पढ़नेकी रुचि उत्पन्न हो पर इसके लिये किसी प्रकारकी कड़ाई कदापि न की जाय। अध्यापकको चाहिए कि वह मनोवैज्ञानिक प्रेरणा द्वारा विद्यार्थियोंमें पुस्तक पढ़नेकी रुचि पैदा करे। उदाहरणार्थ पढ़ाते-पढ़ाते अध्यापक कह बैठे कि अमुक विषय पर अमुक पुस्तकमें बड़ी अच्छी-अच्छी बातें लिखी हैं। अमुक पुस्तक बड़ी सुन्दर और मनोरंजक है। इसीके साथ-साथ विद्यार्थियोंसे उस पुस्तककी संक्षिप्त चर्चा भी कर दे। ऐसा होनेसे विद्यार्थी स्वभावतया उक्त पुस्तक पढ़नेके लिए आकृष्ट होंगे। परन्तु अध्यापकका कार्य इतनेसे ही समाप्त नहीं होता। उसे बीचमें इसकी परीक्षा भी लेनी चाहिए कि विद्यार्थियोंने उसकी बताई पोथियाँ पढ़ी हैं या नहीं। इस परीक्षामें अध्यापकको यह सावधानी रखनी चाहिए कि विद्यार्थी यह कभी न भाँपने पावें कि हमारी परीक्षा हो रही है यह परीक्षा इस

प्रकार ली जा सकती है कि पढ़ाते समय अध्यापक एकाएक कह बैठे कि अमुक बात अमुक पुस्तकमें लिखी हुई है, तुमने तो उसे पढ़ा है, कहो तो क्या है। इस प्रकार बीच-बीचमें पूछते रहनेसे अध्यापकद्वारा निर्दिष्ट पुस्तक विद्यार्थी अवश्य पढ़ेगा क्योंकि उसके मनमें यह बात तो बैठ ही जायगी कि न जाने कब अध्यापक महाशय अपनी बतलाई हुई पुस्तकके बारेमें कुछ पूछ बैठें और समुचित उत्तर न देनेके कारण कक्षामें लज्जित हों।

## द्रुतपठनकी शिक्षण-व्यवस्था

इसी प्रसंगमें हमें द्रुतपठनकी शिक्षण-व्यवस्थापर भी विचारकर लेना उचित होगा। हमारे पाठ्यक्रममें पाठ्य-ग्रन्थोंके साथ-साथ कुछ ऐसी पुस्तकोंका विधान किया जाता है जिन्हें द्रुतपठन पुस्तक कहते हैं। ऐसी पुस्तकोंमें प्रायः कथा-कहानियाँ तथा महापुरुषोंके जीवन-चरित आदि होते हैं। इन्हें पाठ्यक्रममें रखनेका उद्देश्य यह होता है कि विद्यार्थी किसी भी पुस्तकको अपने आप शीघ्र पढ़कर उसका भाव समझ सके। प्रायः ऐसी पुस्तकें भी उसी प्रकार से पढ़ाई जाती हैं जैसे पाठ्य पुस्तकें। उनके पढ़ानेके समय भी प्रत्येक कठिन शब्दका अर्थ बताया जाता है और एक-एक वाक्यका भावार्थ बतलाया जाता है। यह क्रम नितान्त भ्रमपूर्ण है तथा द्रुतपाठनके उद्देश्यसे भी दूर है। पाठ्यक्रममें द्रुतपठनकी व्यवस्था करनेका उद्देश्य यह है कि विद्यार्थी किसी भी लिखित या मुद्रित सामग्रीको शीघ्रतासे पढ़कर उसका अर्थ या भाव समझ सकें। ऐसी पुस्तकोंको कक्षामें पढ़नेका एक विधान यह है कि एक-एक अनुच्छेदका भावार्थ प्रश्नोंद्वारा कहला लिया जाय। आठवें प्रकरणमें हम स्वरसे

पढ़ाने-सिखानेकी विस्तृत व्याख्या कर चुके हैं। दूसरा विधान यह है कि कक्षामें एक पूरा पाठ मौन पढ़नेके लिये दे दिया जाय। अध्यापक यह देखता रहे कि सब विद्यार्थी पढ़ रहे हैं या नहीं। जब वे पढ़ चुकें तो उनसे पाठका भाव प्रश्नोंद्वारा कहला लिया जाय।

मौन-पठनका वास्तविक उपयोग ऐसी पुस्तकोंके पढ़नेमें ही कराया जा सकता है क्योंकि कथा-कहानी अथवा जीवन-चरित स्वभावतः रुचिकर होते हैं। विद्यार्थी यह चाहता है कि वह शीघ्र घटनाओंके चढ़ाव-उतरावको पार कर ले। एक-आध कठिन शब्द या वाक्य उसके अर्थबोधके मार्गमें बाधा नहीं उत्पन्न करते। उनमें से कुछ तो प्रसंगवश स्पष्ट हो जाते हैं और जो बच भी रहते हैं वे कथाबोधमें रुकावट नहीं डाल सकते। यहाँ शब्द-भांडार बढ़ाना नहीं वरन् अर्थ ग्रहण कराना ही उद्देश्य होता है। यहाँ इस प्रकारकी पुस्तकें या पाठ पढ़ाते समय मौन-पठनका विधान उचित, संगत तथा लाभकर हो सकता है क्योंकि इससे धीमी चालवालोंको सहारा मिल जाता है और तीव्र गतिसे पढ़ने वालोंको सुन्दर सुयोग। फिर नागरी भाषा तो मातृभाषा है और इतनी शुद्ध तथा सरल है कि इसमें उच्चारण संबंधी भूलें अधिक नहीं हो सकतीं। द्रुतपठनके विषयमें इतना ही कहकर बस करते हैं कि हरबार्टीय प्रणालीसे व्याख्या करके द्रुतपाठ्य-पुस्तकें नहीं पढ़ानी चाहिए। उनके लिये उपर्युक्त विधान ही उपादेय है।

## पुस्तकालयका प्रबन्ध

मुख्य पुस्तकालयके प्रबन्धका भार किसी ऐसे अध्यापकको सौंपना चाहिए जिसे पुस्तकोंसे स्वाभाविक प्रेम हो,

जिसका ज्ञान चतुर्मुख हो, जो थोड़ी-बहुत सभी विषयोंकी जानकारी रखता हो, जिसके पास किसी विशेष विषयके अध्ययनकी इच्छा लेकर यदि कोई आवे तो वह तुरत उसके काममें आनेवाली दो चार छः पुस्तकोंके नाम बतला सके तथा उचित परामर्श दे सके।

कक्षासे सम्बन्ध रखनेवाले पुस्तकालयकी देख-रेख उस कक्षाके अध्यापकके हाथमें रहनी चाहिए पर पुस्तकके लेन-देन का सारा काम विद्यार्थियोंके द्वारा ही होना उचित है ऐसा होने से विद्यार्थियोंमें स्वालम्बनकी भावना जड़ पकड़ेगी। पुस्तकके लेन-देनका सारा प्रबन्ध विद्यार्थियोंके हाथोंमें रहनेसे उनकी रुचि भी धीरे-धीरे पुस्तकोंके पठन-पाठनकी ओर बढ़ेगी।

## पत्र-पत्रिकाएँ

विद्यालयीय पुस्तकालयकी व्यवस्थामें हस्तलिखित पत्रिकाओं तथा शिक्षा-संबंधी पत्र पत्रिकाओं के स्थानीय संपादकोंकी यह प्रवृत्ति होती है कि उन्हें जो कुछ भी जिस किसीसे भी लिखा हुआ मिल जाता है उसे वे उस पत्रिकामें दे डालते हैं। विद्यालयकी हस्तलिखित पत्रिकाके संपादकको दूसरे संपादकोंकी अपेक्षा अधिक सावधान रहना चाहिए। विषयोंका चुनाव इस प्रकारसे करना चाहिए कि उनमें अनावश्यक, अनर्गल तथा कुरुचिपूर्ण सामग्री किसी प्रकार भी प्रविष्ट न हो। लेख छोटे और मनोरञ्जक हों। उनमें जो ज्ञान देनेका प्रयास किया गया हो वह गुरु और उपदेष्टाके रूपसे न हो वरन् कथा-कहनेवालों-के ढंगसे हो प्रायः इन पत्रिकाओंमें प्रत्येक लेख अपनी-अपनी अलग भाषा और शैलीका द्योतक होता है। शैली

भले ही अलग-अलग हो किन्तु भाषाका एक रूप अवश्य होना चाहिए। यह संपादकका काम है कि वह आए हुए सब लेखोंकी भाषाको एकरूप कर दे। सब लेख सुन्दर लिपिमें लिखे जाने चाहिएँ और इन पत्रिकाओंमें यथासंभव सब लेख विद्यार्थियोंके ही हों।

भाषाके अध्यापकको यह न समझ लेना चाहिए कि वही पत्रिकाका एकमात्र अधिपति है और केवल वही पत्रिकाके स्वरूपका विधाता है। उसे चित्रकला शिक्षकका भी सहयोग प्राप्त करना चाहिए उनसे पत्रिकाका सौन्दर्य्य बढ़ानेमें सहायता मिल सकती है। इन पत्रिकाओंमें लेखोंके बीचमें विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले चित्र बनवाए जा सकते हैं जिससे कि पाठ्यविषय आकर्षक तथा रुचिकर बन जायँ। फूल-पत्तियों तथा बेल-बूटोंसे प्रत्येक लेखका शीर्षक मनोहर बनाया जा सकता है। इन पत्रिकाओंमें छोटी-छोटी कविताएँ कहानियाँ, संवाद, व्यंग्य चित्र आदि सब सामग्री रह सकती है। प्रत्येक मासकी पत्रिका जिल्द बँधवाकर संग्रह कर लेनी चाहिए।

इन पत्रिकाओंसे सबसे बड़ा लाभ यह है कि विद्यार्थियोंकी लिखनेमें रुचि बढ़ती है और उनकी भाषा तथा शैलीका परिमार्जन हो जाता है। अपने साथीकी किसी कृतिको देखकर अनायास ही उनकी स्पर्द्धाकी भावना जग उठती है और रचनात्मिका वृत्ति सक्रिय हो जाती है।

हस्तलिखित पत्रिकाके अतिरिक्त जो बाहरसे छपी हुई पत्र-पत्रिकाएँ विद्यालयोंमें मँगाई जायँ उनमें भी इस बातका ध्यान रक्खा जाय कि उनके विषय सुरुचिपूर्ण, चरित्रनिर्मायक उदात्त-वृत्तिको उकसानेवाले तथा रुचिकर

हों और उनकी भाषा विद्यार्थियोंकी मानसिक अवस्थाके अनुकूल हो। उनमें गन्दे तथा झूठे विज्ञापन न हों। यदि हों तो वे फाड़कर अलग कर दिए जायँ।

## संग्रहालय

प्रायः संस्कृत विद्यालयोंमें छोटे-मोटे संग्रहालय भी नहीं होते। संस्कृतके अध्यापक तथा विद्यार्थियोंके लिये संग्राहलयमें कुछ विशेष वस्तुएँ अथवा उनके चित्र होने चाहिएँ। हमलोग चातक, कोकिल, सारिका, कारंडव, क्रौंच तथा हंस आदि पक्षियोंका वर्णन अपनी पुस्तकोंमें पाते हैं और पढ़ाते समय 'एक प्रकारका पक्षी' कहकर काम चला लेते हैं। यहाँ तक कि अध्यापक भी इन पक्षियोंके रूप-रंगसे परिचित नहीं होते। इसी प्रकार वीणा, मृदंग, भेरी, अस्त्र-शस्त्र, लता-वृक्ष, फल-पुष्प आदिसे भी वे अपरिचित होते हैं। यदि ये वस्तुएँ, इनके चित्र अथवा इनकी प्रति-मूर्त्तियाँ संग्रहालयमें हों तो पढ़ानेमें सुविधा हो और इन पदार्थोंका उचित ज्ञान हो।

हमने पुस्तकालयकी व्यवस्थाको केवल संस्कृतकी दृष्टि-से नहीं वरन् सब विषयोंकी दृष्टिसे लिखा है। संस्कृतके अध्यापक इसमें बताए हुए नियमों तथा सिद्धान्तोंके अनु-सार संस्कृतकी पुस्तकोंका संग्रह तथा प्रयोग कर सकते हैं।

---

# कुछ नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ

हम पीछे चौदहवें प्रकरणमें शिक्षाशास्त्रकी नई गति-विधियोंका संकेत दे चुके हैं। यहाँ हम मनोवैज्ञानिक अध्ययनके आधारपर आविष्कृत नई शिक्षा-प्रणालियोंका परिचय देंगे और यह भी विचार करेंगे कि उनमें भाषाशिक्षाकी व्यवस्था किस प्रकार की गई है और वह कहाँ तक उपयोगी तथा सार्थक है।

## बालोद्यान ( किण्डरगार्टेन् )

फ्रीड्रिख फ्रोबेल्ने सन् १८४० ई० में जर्मनीमें अपनी बाल पाठशालाका नाम बालोद्यान या किण्डरगार्टेन् रक्खा था। खेल, स्वाभाविक चहलपहल तथा स्वेच्छापूर्वक स्वशिक्षा द्वारा मनुष्योंको स्वयंशिक्षित तथा स्वयंसंस्कृत बनानेके लिये वह पाठशाला खोली गई थी। फ्रोबेल महोदयका उद्देश्य यह था कि शारीरिक तथा मानसिक शक्तियोंको इस प्रकार जगाया जाय कि 'बालक यहाँ पर अपनी वास्तविक प्रकृति, चरित्र तथा अपनी जीविकावृत्तिको सचाईके साथ प्रकट कर सके, उन्नत कर सके और सीखते हुए अपनेको शिक्षित बनाता चले।' इस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये उन्होंने निम्नलिखित साधन प्रस्तुत किए—

१. गीत, खेल और सीधा-सादा शारीरिक व्यायाम—गीतोंमें वे लोरियाँ थीं जो प्रायः माताएँ गाया करती थीं

और खेल तथा व्यायाम वे ही थे जो बहुधा बालक खेला करते थे या माताएँ बच्चोंके साथ खेलती थीं।

२. सिखाऊ खिलौने—इन्हें 'फ्रोबेलका उपहार' भी कहते हैं। ये खिलौने बच्चोंके स्वतन्त्र खेलनेके लिये बनाए गए थे जिनको वे 'अपने आप बना-बिगाड़कर' अपना विकास करें तथा गणित-संबन्धी अनेक रूपोंसे परिचित हों।

३. सिखाऊ हस्तकौशलकी सामग्री—इनमें बालू, चिकनी मट्टी, कागज, पेंसिल इत्यादि हैं जिनसे बालक इन सामग्रियोंके प्रयोगसे कुछ वस्तुएँ बना सके।

४. प्रकृति-निरीक्षण—पेड़-पत्ते तथा चिड़ियों चौपायों-से परिचय प्राप्त करना, जिससे बालक दूसरे जीवोंको तथा ईश्वरको समझें और उनका आदर करें।

५—कथा-कहानी सुनाना।

उपर्युक्त साधनोंमें गीत तथा कहानियाँ ऐसे साधन हैं जिनसे भाषा-शिक्षणमें सहायता मिल सकती है। कुछ खिलौने भी इस प्रकारके हैं कि उनके मेलसे अक्षर बनाए जा सकते हैं किन्तु वास्तवमें इस स्वतंत्रताके क्षेत्रमें भाषा-शिक्षणका कोई भिन्न अस्तित्व तथा महत्व नहीं है। इसीके आधारपर भुवालीके श्रीदेवीदत्तने एक किंडरगार्टन बक्स बनाया है जिसमें चौबीस लकड़ीके टुकड़े रहते हैं जिनसे कई भाषाओंके अक्षरों तथा बहुतसे जीवों और पदार्थोंकी आकृतियाँ बन जाती हैं। इन टुकड़ोंसे बच्चोंको आनन्द तो आता है किन्तु अक्षर सीखनेके बदले वे साँप और चिड़िया अधिक बनाते हैं क ख ग घ कम। इस प्रणालीसे शिक्षा देनेमें बहुत समय नष्ट होता है किन्तु आरंभमें तीन वर्षके बालकको दो-तीन महीने इनसे खिलाया जा सकता है।

## मौन्तेसोरी प्रणाली

इटली-निवासी श्रीमती मेरिया मौन्तेसोरीने बालकोंके स्वतन्त्र तथा स्वाभाविक विकासको अबाध बनानेके लिये एक शिक्षा-प्रणाली निकाली है जो उन्हींके नामसे प्रचलित है। उनके सिद्धान्त ये हैं—( १ ) बादमें दी जानेवाली शिक्षाके लिये पहले से पुट्ठों तथा अंगोंको ठीक प्रकारसे सधा देना चाहिए। ( २ ) इसकी सबसे अच्छी विधि यह है कि विशेष रूपसे निर्मित, नियमित सामग्री पर क्रमिक अभ्यास कराए जायँ। ( ३ ) ये अभ्यास बालक अपनी गतिसे करें। ( ४ ) जिनमें कई प्रकारके कार्य एक साथ होते हैं उन कार्योंके लिये पहलेसे हाथ, आँख आदि सधा दिए जायँ जैसे सलाईसे बुननेमें। श्रीमती मौन्तेसोरीजीका दावा है कि उन्होंने बालकोंकी गतिविधिको भली प्रकार समझ लिया है और जो सामग्री बनाई है वह अत्यन्त कठोर वैज्ञानिक कसौटीपर कसी जा चुकी है। पर अभीतक उन्होंने उस वैज्ञानिक कसौटीका लेखा नहीं दिया है जिससे और लोग भी उसकी परीक्षा कर सकते। भाषा सिखानेकी विधि इनकी विचित्र हैं। बलुए कागजके अक्षर काटकर अलग चिपकाए जाते हैं। उनपर बालक आँखमें पट्टी बाँधकर या देखकर हाथ फेरता है और उसकी पहचान करता है। अन्धोंके स्कूलके लिये तो यह प्रणाली ठीक है पर साधारण स्कूलोंमें इस प्रकार पढ़ाना समय और द्रव्यका अपव्यय है। इसी प्रकार इन्होंने व्याकरण, पोथी पढ़ना, गणित, संगीत तथा चित्रकला इत्यादिके लिये भी बड़े ठाट-बाटके खर्चीले उपाय निकाल डाले हैं जिनके लिये न तो भारतके

पास पैसा है न समय। इसे तो राजाओंकी हवेली समझनी चाहिए—'दिलके बहलानेको ग़ालिब ये ख़याल अच्छा है।'

## डाल्टन प्रयोगशाला-योजना

कुमारी हेलन पार्खर्स्ट इस योजनाकी प्रवर्तिका हैं। आपका भी उद्देश्य यही है कि बालकोंको ज्ञान तो दिया जाय अवश्य पर वे उसे बोझ न समझें और मशीनकी तरह अरुचिकर तथा एकरस न मानें। इसीलिये उन्होंने नित्यका कार्य्यक्रम ( टाइम टेबिल ) फाड़ फेंकने और सीधा एक महीने भरका काम देनेकी सलाह दी है। विद्यार्थीको यह स्वतन्त्रता दे दी कि वह इस कामको महीने भरमें जिस समय चाहे पूरा करे। स्कूलकी प्रत्येक कक्षा भूगोल, भाषा, इतिहास तथा विज्ञानकी प्रयोगशाला बन गई। वहाँ उस विषयकी सब सामग्री और उस विषयका अध्यापक बैठा रहता है कि विद्यार्थीको समय पर परामर्श दे। सब काम विद्यार्थी स्वयं करता है। जैसे ही वह एक निर्दिष्ट कार्य समाप्त करता है त्यों ही उसे दूसरा मिल जाता है। तेज बालक जल्दी समाप्त करके आगे बढ़ सकता है, मन्द बालक अपनी मन्दी चालसे काम करता रहता है। दोनोंको लाभ है। इसके द्वारा अध्यापक अधिक बोलनेसे बच जाता है। एक महीनेके लिये चार सप्ताहोंमें बाँटकर पढ़नेके पाठ तथा लिखनेके लिये अभ्यास देकर वह केवल सहायता देता रहता है विद्यार्थी भी स्वतन्त्र, अध्यापक भी स्वतन्त्र। कुमारी पार्खर्स्टने उदारतापूर्वक यह स्वतन्त्रता भी दे दी है कि इस प्रणालीमें आवश्यकताके अनुसार परिवर्त्तन भी किए जा सकते हैं। यह प्रणाली तभी प्रारम्भ की जा सकती है जब

बालक अपने पैर खड़ा होनेके योग्य हो जाय अर्थात् वर्त्तमान पाँचवीं कक्षासे ऊपर इसका ठीक उपयोग हो सकता है।

इस प्रणालीमें जो कार्य्य दिया जाता है उसे ठेकेका कार्य्य ( कौन्ट्रैक्ट एसाइनमेण्ट ) कहते हैं। यह कार्य्य देते हुए निम्नलिखित बातोंका ध्यान रक्खा जाता है।

( १ ) प्रस्तावना—थोड़ेसे शब्दोंमें एक महीनेके कार्य्यका कुछ थोड़ा-सा परिचय दे देते हैं।

( २ ) विषयांग—भाषाके किस अंग ( रचना, व्याकरण, कविता आदि ) के लिये कार्य्य दिया जाता है। इसका उल्लेख होता है।

( ३ ) समस्याएँ—इस शब्दके अन्तर्गत बहुत सी बातें हैं जैसे—शब्द-तालिका बनाना, मानचित्र बनाना आदि। अधिकतर भाषाके पाठमें समस्याएँ कम होती हैं।

( ४ ) लिखित कार्य्य—जो कुछ लिखवाना होता है उसकी पूरी सूची होती है और जिस तिथिको लेख लेना होता है उस तिथिका स्पष्ट उल्लेख होता है।

(५) कण्ठस्थ करनेके योग्य कार्य—उन कविताओं अथवा अनुच्छेदोंका उल्लेख होता है जो कण्ठस्थ कराने होते हैं।

( ६ ) बैठक—उन तिथियोंका उल्लेख होता है जब पूरी कक्षाको एक साथ बैठाकर प्रत्येक विषय पर बातचीत की जाती है।

( ७ ) सहायक पुस्तकें—उन पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओंके नाम दिए जाते हैं जिनकी सहायता लेनेका आदेश दिया जाता है। साथ ही अध्यायों तथा पृष्ठोंका भी उल्लेख कर दिया जाता है जिसमें बालकको अधिक समय नष्ट न करना पड़े।

(८) गति-प्रदर्शक—बालकको यह बतलाया जाता है कि वह अपनी उन्नतिका लेखा किस प्रकार बनावे।

(९) सूचना-पट्टका अध्ययन—जब कभी प्रयोगशालाके सूचना-पट्ट पर कोई चित्र, मानचित्र अथवा लेख आदि पढ़नेके लिये टाँग दिए गए हों तो उसका भी उल्लेख कर दिया जाता है।

(१०) विभागीय छूट—कक्षाके विभिन्न पाठ्य विषयोंमें परस्पर सहयोग होता है। यदि किसी विद्यार्थीको इतिहासके अध्यापकने शिवाजी पर एक लेख लिखनेको दिया और वह लेख भाषाकी दृष्टिसे बहुत अच्छा लिखा गया तो भाषाका अध्यापक अपने दिए हुए लेखन-कार्य्यमेंसे उतनी कमी कर देता है और उसका उल्लेख कर देता है। इस प्रकार एक-एक सप्ताहका कार्य्य अलग-अलग बनाकर दे दिया जाता है।

उपर्युक्त सिद्धान्तोंको दृष्टिमें रखकर ऐसी पुस्तकोंका भी निर्माण और प्रचार करना चाहिए जिसमें भली प्रकार बाँटकर काम देनेका सुयोग हो। यह प्रणाली दोष-रहित, मनोविज्ञान-सिद्ध, शिक्षा-शास्त्र-विहित, रुचिकर तथा सर्वत्र प्रयोज्य है अतः सर्वश्रेष्ठ है।

## प्रयोग प्रणाली (प्रोजैक्ट मेथड)

यह प्रणाली सर्वप्रथम संयुक्तराज्य अमेरिकामें कृषिके लिये काममें लाई गई थी। उसके बाद अन्य पाठ्य विषयोंमें भी इसका प्रयोग किया गया। इसके प्रवर्त्तकोंने प्रयोगकी यह परिभाषा दी है—'प्रयोग वह समस्यात्मक कार्य्य है जो वास्तविक परिस्थितिमें पूरा किया जाय।' कहनेका तात्पर्य्य यह है कि जो विषय पढ़ाए जायँ वे स्कूलके पाठ्य-

विषय कहकर नहीं बल्कि वास्तविक कार्य्यके रूपमें सिखलाए जायँ। इस प्रणालीद्वारा भाषा-शिक्षणका उदाहरण देनेसे इसका स्वरूप स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिए विद्यार्थियोंको निमन्त्रण-पत्र लिखना सिखाना है। जिस दिन स्कूलमें कोई उत्सव हो उस दिन कक्षाके विद्यार्थियोंसे कहा जाय कि नगरके प्रतिष्ठित लोगोंके लिये निमन्त्रण-पत्र लिखो और भेजो। यह प्रयोग दे दिया गया। अब वे नगरके प्रतिष्ठित लोगोंकी नामावली बनावेंगे, पुराने निमन्त्रण-पत्र एकत्र करके उनमें से अपनी अपनी रुचिके अनुसार सुन्दर निमन्त्रण-पत्र छाँटेंगे, तदनुसार अपने आप लिखेंगे, लिफाफे तैयार करेंगे, पते लिखेंगे और फिर उन्हें भेज देंगे। इस प्रकार एक-एक विद्यार्थी दस-दस बीस-बीस पत्र लिखेगा तो उसको कमसे कम निमन्त्रण-पत्रका वह रूप तो सिद्ध हो जायगा। अब आपने देखा कि यह समस्यात्मक कार्य्य वास्तविक परिस्थितिमें पूरा किया गया। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि सब विषय तथा किसी विषयके सब अंग इस प्रणालीके द्वारा नहीं सिखाए जा सकते। इसका प्रयोग स्कूलोंमें विशेष अवसरोंपर किया जा सकता है।

## वर्धा-शिक्षा-योजना

आजकल वर्धा-शिक्षा-योजनाकी धूम है। युक्तप्रान्तमें मूल-शिक्षा (बेसिक) के नामसे तथा मध्यप्रान्तमें विद्या-मन्दिर योजनाके नामसे इसीका प्रयोग हो रहा है।

यह योजना सर्वप्रथम महात्मा गाँधीने अपने 'हरिजन' के सन् १९३७ के एक अंकमें प्रकाशित की थी। उनके अनु-

सार यह योजना (१) मुख्यतः गावोंके लिये है जहाँ नगरोंकी अपेक्षा अधिक शिक्षाका अभाव है। (२) इसका उद्देश्य यह है कि काम चलाऊ शिक्षा, अक्षर-ज्ञात तथा किसी उपयोगी कौशलका ज्ञान कराया जाय। (३) यह शिक्षा कर-दाताओंपर भार न होकर स्वावलम्बी हो। (४) इसके द्वारा गावोंको छोड़कर नगरोंमें जाकर बसनेकी प्रवृत्ति रोकी जाय।

इस योजनाकी विशेषता यह है इसमें सब ज्ञातव्य विषयोंकी शिक्षाका एक मूल हस्तकौशलपर अवलम्बित तथा उससे सम्बद्ध होती है अर्थात् भाषा, इतिहास, भूगोल, संगीत सबका सम्बन्ध उस मूल हस्तकौशलसे होता है जो बालकने स्वीकार किया हो। इन मूल हस्तकौशलोंमें कताई-बुनाई, खेती-बारी, बढ़ईगिरी इत्यादि अनेक हस्तकौशल आ सकते हैं। यह योजना पेस्तालोजी महोदयके शिक्षण-सिद्धान्तोंका तथा उपर्युक्त प्रयोग-प्रणालीका भारतीय रूपान्तर मात्र है।

जब पहले पहल सात प्रांतोंमें कांग्रेसी सरकार स्थापित हुई थी उस समय तत्कालीन शिक्षा प्रणालीको बदलनेकी व्यवस्था भी की गई और प्रत्येक प्रांतमें वर्धा शिक्षा योजना लागू कर दी गई। यह शिक्षा-योजना भारतके चार कष्टोंको दूर करनेकी दृष्टिसे बनाई गई थी—१ दरिद्रता, २ निरक्षरता, ३ परतन्त्रता और ४ स्कूलोंकी नीरसता। यह प्रणाली चार मुख्य मनोवैज्ञानिक सिद्धांतोंपर अवलंबित करके बनाई गई—१ स्वयं शिक्षा ( औटोएजुकेशन ) २ करना और सीखना ( लर्निंग बाइ डु इंग ): ३ आवयविक शिक्षा ( सैन्स ट्रेनिंग ) ४ श्रमका आदर ( डिगनिटी ऑफ़-लेबर ) इनको

ध्यानमें रख कर इस प्रणालीके चार अंग भी निर्धारित हो गये—

१. अनिवार्य शिक्षा, २. मातृभाषाके द्वारा, ३. किसी हस्तकौशलपर अवलंबित तथा ४. स्वावलम्बी।

हस्तकौशलके चुनावमें यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया कि केवल वह हस्तकौशल ही शिक्षाका आधार बनाया जाय जिसमें अधिकसे अधिक शिक्षाकी संभावनाएँ निहित हों अर्थात् जिसके आधार पाठ्यक्रमके सभी विषय पढ़ाए जा सकें।

पाठ्य विषयोंमें निम्नलिखित विषय निर्धारित किए गए—मातृभाषा, हिन्दुस्तानी, व्यावहारिक गणित, सामाजिक अध्ययन (इतिहास, भूगोल तथा नागरिक शास्त्र) संगीत, हस्तकौशल तथा व्यायाम। मानव मात्रके उपयोगमें आनेवाले सभी विषयोंका समावेश इस सूचीमें आ गया। किन्तु जो पाठन-समयकी अवधि बनाई गई वह इतनी विषम थी कि आधेमें हस्तकौशल और आधेसे कमरेमें शेष अन्य विषय।

## शिमलेका निर्णय

इस योजनाके निर्माणके अनन्तर जब शिमलेमें इसकी सभा बैठी तो उसने यह निर्णय कर दिया कि इस योजनाको स्वावलंबी नहीं बनाया जा सकता और इस निर्णयके आधारपर चौथा अंग अलग कर दिया गया। किन्तु इस अंगके अलग कर देने मात्रसे तो संतोष नहीं हुआ क्योंकि तीन घंटे बीस मिनट तक चरखा चलाना या अन्य हस्तकौशलमें समय लगाना भी तो मनोविज्ञानके सभी सिद्धांतोंके प्रतिकूल है। हाथका ही काम क्यों न हो किंतु उसमें तो

एकाग्रता अपेक्षित है और एकाग्रता निःसीम नहीं होती, उसकी भी अवधि होती है। इसीलिए युक्तप्रांतमें आधार शिक्षा या बुनियादी तालीम और मध्यप्रांतमें विद्यामंदिर योजनाके नामसे जब वर्धाप्रणाली चलाई गई तो उन्होंने हस्तकौशलकी अवधिको कम कर दिया।

कई वर्ष अनुभव करनेके पश्चात् उसके पक्ष और विपक्षके रूप अत्यंत स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं।

### पक्ष

इस योजनासे विद्यालयोंके बाहरी रूपमें अन्तर आ गया है। नीरस कोरी भीतोंपर अब अनेक प्रकारके बेलबूटे और चित्र बने हुए दिखाई देते हैं। उसमें प्रवेश करनेपर एक स्वाभाविक आकर्षण होता है, उसके प्रति एक प्रकारकी ममता होती है। अपनी नूतन रचना अथवा अपने बनाए हुए चित्रसे बालकोंके मुख पर स्वनिर्मितिका गौरवपूर्ण उल्लास और उत्साह भी दिखाई देता है। उनकी निष्क्रिय उँगलियोंमें कलापूर्ण सक्रियताकी स्वस्थ चहल-पहल दिखाई देती है।

रटने और घोखनेका रोग दूर होता चला जा रहा है और इससे छात्रोंमें वह आतंक नहीं दिखाई देता जो किसी समय इन पाठशालाओंका विशेष श्रृंगार था।

मातृभाषामें शिक्षा होने से उनका ज्ञान अधिक वेगसे बढ़ रहा है और विदेशी भाषापर अधिकार प्राप्त करनेके अति प्रयासमें जो समय और शक्ति नष्ट होती थी वह दूसरे कामोंके लिए बच गई है।

अध्यापकको भी थोड़ा विश्राम मिल गया है। वह भी उतना व्यग्र और व्यस्त नहीं दिखाई देता जितना पहले था।

## विपक्ष

यह सब होते हुए भी तनिक भीतर प्रवेश करनेपर उसमें निष्पक्ष दृष्टिसे आँख गड़ाकर देखनेसे ज्ञात होगा कि हमने जिस स्वर्गके निर्माणके लिए प्रासाद खड़ा किया था। उसके निर्माणके पूर्व ही उसपर दानवोंने अधिकार कर लिया है। सबसे पहला दोष तो यह आ रहा है कि विनय और शील जो मानव-शिक्षा और समाजोन्नतिके दो प्रधान स्तम्भ हैं वे अत्यन्त निर्ममताके साथ तोड़कर गिराए जा रहे हैं छात्रोंमें उद्दण्डता, असहनशीलता और उच्छृङ्खलता बढ़ रही है।

वे हस्तकौशलका काम करते अवश्य हैं किन्तु अधिकांश बालकोंकी उधर रुचि नहीं है, क्योंकि हमारे देशकी अधिकांश जनता गांवोंमें रहती है और प्रत्येक छोटे-बड़ेको अपने सब काम अपने हाथ करने पड़ते हैं। घरमें जो बालक प्रातःकाल सानी-पानी करके आया होगा वह चरखेमें पड़कर ऊबेगा नहीं तो क्या होगा और फिर यह हस्तकौशलका चरखा विधिका चक्र बनकर पाठशालाके सभी घंटोंमें उसके सिरपर घूमता है क्योंकि भाषा, इतिहास, गणित, संगीत सभी विषयोंका पाठ उसी हस्तकौशलसे प्रारम्भ होता है और उसीसे उनका अन्त हो जाता है। किसीको भी पागल कर डालनेके लिये इससे बढ़कर और क्या उपाय हो सकता है। जान पड़ता है इस योजनाके स्रष्टाओंने तथा पोषकोंने 'अतिसर्वत्र वर्जयेत्' का पाठ कहीं पढ़ा या सुना नहीं होगा।

## सामग्रीका विनाश

एक ओर हम समूचे समाजको 'पाई-पाई बचाओ' 'कुछ

नष्ट न करो' का उपदेश देते हैं, दूसरी ओर हम देख रहे हैं कि हमारे इन नये विद्यालयोंमें सूत, रूई, लकड़ी, कागज, कार्डबोर्ड आदिका इतना अपव्यय हो रहा है कि उसे देखकर तो अपने देशकी दरिद्रतामें तनिक भी विश्वास करनेका मन नहीं करता। शिक्षा-केन्द्रोंसे तीन-तीन महीनेमें कलाकौशलके महापंडित बनकर निकले हुए अध्यापकगण जो परिमित ज्ञान लेकर आते हैं बस वही ज्योंका त्यों अपने अपने छात्रोंको सिखा देते हैं। युक्तप्रान्तमें, मध्यदेशमें जहाँ चाहे चले जाइए चित्र एकसे, कागजके खिलौने एकसे, लकड़ीके निर्माण भी एकसे और वे सब भी ऐसे हैं जिनका भारतीय जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं। विलायतसे हस्तकौशलकी शिक्षा पाए हुए महाचार्योंने तश्तरी, दियासलाईकी डिबिया, चौकोर या अठपहलू डलिया अङ्गरेजी चालका गिरजाघरके ढंगका घर, पत्र रखनेका बटुआ आदि बनाना सिखलाया है। गाँवके लोग इन्हें लेकर क्या करेंगे। यदि उन्हें झोंपड़ीके कुछ रूप समझाए गये होते, खटिया बुनना, खाट सालना, चौकी, पीढ़ा या मसालेकी चौकड़ी बनाना सिखाया जाता, रस्सी या चर्खा-करघा बनाना, कंघी बनाना या कुछ ऐसी वस्तुओंका बनाना सिखाया गया होता जिनका उनके जीवनसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है तो उन्हें लाभ भी होता और उनके व्यवसायिक जीवनके चुनावमें भी सहायता मिलती।

## परीक्षाका भूत

और फिर सबसे बड़ा भूत तो परीक्षाका हमारे सिरपर चढ़ा हुआ है। हमारी सम्पूर्ण शिक्षाका केन्द्र तो परीक्षा है। हम जो कुछ पढ़ते हैं या पढ़ाते हैं सब परीक्षाके लिये,

क्योंकि समाज यही चाहता है और शिक्षा-विभाग भी यही चाहता है कि छात्रोंकी अधिकसे अधिक संख्या परीक्षामें उत्तीर्ण हों परीक्षाफलसे ही अध्यापककी योग्यता और सफलता आँकी जाती है। अतः जबतक यह परीक्षा हमारी प्रणालीमें कृत्या बनकर बैठी रहेगी तबतक हमारी शिक्षाका उद्धार नहीं हो सकता।

फिर इस प्रणालीमें नैतिक और धार्मिक शिक्षाका अत्यन्ताभाव है। जिस बातके लिये वास्तवमें शिक्षा दी जानी चाहिये उसीका अभाव इसमें आद्यन्त खटकता है। यदि नैतिक शिक्षाकी हमने व्यवस्था नहीं की तो हमारी शिक्षा योजनाका प्रयोजन ही क्या हुआ। अतः वर्त्तमान शिक्षा-शास्त्रियों को या यों कहिए कि शिक्षा-मंत्रियों को बड़ी गंभीरतासे इन प्रश्नोंपर विचार करके नई शिक्षा प्रणालीका स्वरूप स्थिर करना चाहिए क्योंकि यही ऐसा युग है जिसमें हमारा भविष्य बन रहा है और यदि तनिक भी चूक जायँगे तो हमारी भावी सन्तान हमारी मूर्खताओंकी खिल्ली उड़ायेगी और जो कुछ हम इस समय कर जायँगे उसे बदलना या उसमें आमूल परिवर्त्तन कर देना भी उनके लिये सुगम नहीं होगा। स्मरण रखना चाहिये कि शिक्षा ही हमारे धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक जीवनकी नींव है उसे दृढ़ करनेमें कोई कमी नहीं छोड़नी चाहिए।

## खेल द्वारा भाषा शिक्षण

आजकल मनोवैज्ञानिकोंने एक नई धूम मचाई है कि बालकोंकी शिक्षा अधिक स्वाभाविक तथा सुरुचिपूर्ण बनानेके लिए यह आवश्यक है कि नया ज्ञान बालकोंको

इस प्रकार दिया जाय कि बालक स्वतः उस ओर प्रवृत्त हो और यह तभी सम्भव हो सकता है जब उस वस्तु या विषयमें बालककी स्वयं रुचि हो। किन्तु अध्यापकके लिए यह जानना बड़ा कठिन है कि किस बालककी किस बातमें अधिक रुचि है और यदि यह जान भी लिया जाय तो एक कक्षाके पैंतीस भिन्न रुचिवाले बालकोंके अनुकूल पाठ्य विषय प्रस्तुत करना उसके लिए केवल कठिन ही नहीं असंभव भी है। अतः कुछ शिक्षाशास्त्रियोंने यह सुझाव उपस्थित किया कि जो स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ सबमें नहीं तो अधिकांश बालकोंमें अवश्य पाई जाती हों, उन्हींका प्रयोग किया जाय। उनमेंसे एक प्रवृत्ति है खेल-कूदकी।

बालकमें—वर्तमान युगके बालकमें विशेष रूपसे—आवश्यकता से अधिक चपलता और उत्साह होता है वह प्रति क्षण कुछ करना, कुछ सीखना, कुछ जानना चाहता है। प्रायः मनोवैज्ञानिक यह कहते हैं कि बालकमें कुछ बढ़ी हुई शक्ति होती है जो उसे खेल-कूदके लिए उत्तेजित करती है किन्तु यह सिद्धांत नितांत भ्रामक है। वास्तविक तथ्य यह है कि जैसे कोई प्रौढ़ मनुष्य भी किसी नये नगर में पहुँचकर कुतूहलवश वहाँकी प्रत्येक अदृष्टपूर्व, अननुभूत वस्तुकी ओर आँख फाड़कर देखता है और जानने, समझने और सीखनेके लिए व्याकुल रहता है उसी प्रकार संसार रूपी नये महानगरमें आया हुआ बालक अपने चारों ओर नये पदार्थ और विषय देखता-सुनता है। उसकी कुतूहल-वृत्ति उसे नई-नई वस्तुएँ, देखने, सुनने और समझने तथा अन्य लोगोंकी देखा-देखी वैसा ही करनेको उत्साहित करती है। अतः बालकोंकी शिक्षाको स्वाभाविक बनानेके लिये यह आवश्यक

है कि नया ज्ञान इस प्रकार और ऐसा दिया जाय कि उनकी कुतूहल-वृत्ति जागरित होकर उसे आत्मसात् करनेके लिए उतावली हो उठे।

बहुतसे लोग यह भी समझ बैठे हैं कि शिक्षा-क्षेत्रमें इस प्रकारकी मनोवैज्ञानिक क्रांति लानेका श्रेय विलायती मनोवैज्ञानिकोंको ही है किन्तु वे यह नहीं जानते कि ऋषियोंने वेदके आध्यात्मिक तत्त्वोंका प्रचार और प्रसार उपनिषद्‌की कथाओं द्वारा किया। भगवान बादरायणजीने पुराणोंके द्वारा वेदकी व्याख्या करके वेदव्यास नाम धारण किया और विष्णुशर्माने तो शुद्ध और स्पष्ट भाषामें यह बात समझा दी कि जो राजकुमार सीधे उपदेशोंसे और पाठोंसे घबरा गए हों उन्हें नीति समझानेका सरल मार्ग यही है कि कथा सुनाई जाय—

"कथाच्छेलन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते।"

( कथा सुना-सुनाकर बालकोंको यहाँ नीति सिखाई जा रही है। ) यह कथा-प्रणाली भी खेल प्रणालीका ही एक रूप है। इसी प्रकार नाट्यको भी नाट्य-शास्त्रमें हितोपदेशजननं और सर्वोपदेशजननं कहा है। इसके अतिरिक्त महाकवि कालिदासने अपने मालविकाग्निमित्र नाटकमें नाट्याचार्य गणदाससे यह स्पष्ट कहलाया है—

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य—बहुधाप्येकं समाराधनम्।

[ नाट्य ही एक ऐसा उत्सव है जिसमें भिन्न-भिन्न रुचिवाले लोग भी एक-सा आनन्द पा सकते हैं।] अतः यह नहीं समझना चाहिए कि यह ज्ञान हमें साक्षात् विलायतसे प्राप्त हुआ है।

किन्तु प्रत्येक वस्तुकी सीमा होती है। शिक्षामें अनाव-

श्यक खेलका प्रवेश करके उसे हास्यास्पद और खेलवाड़ नहीं बना देना चाहिए क्योंकि जहाँ कक्षाके अधिकांश बालक उन खेलोंमें सक्रिय तथा उत्साहपूर्ण भाग लेंगे वहाँ ऐसे भी निरुत्साही, पोंगे तथा जड़ बालकोंकी कमी नहीं होगी जो मुँह बाकर टुकुर-टुकुर ताका करेंगे और करें-धरेंगे कुछ नहीं। इसके अतिरिक्त जब बालकोंको यह गन्ध मिल जायगी कि गुरुजी नित्य कहानी ही कहते हैं, नाटक ही खिलवाते हैं और खेलवाड़ ही कराते हैं तो उनकी रुचि या तो पढ़नेसे ही हट जायगी या उनकी विरक्ति हो जायगी। अतः कक्षाके नियमित शिक्षणमें इन खेलोंका प्रयोग कभी छठे-छमासे ही करना चाहिए।

इस अधिक खेलवाड़-प्रणालीका कुफल यह भी होता है कि कक्षामें विनय और शीलका अभाव हो जाता है, बालक उद्दण्ड हो जाते हैं और गुरु और शिष्यके बीच जो आदर और शील होना चाहिए वह लुप्त हो जाता है।

भाषाके शिक्षणके लिये नीचे लिखे कुछ लेखोंका विवरण दिया जाता है।

१—नाटक

नाटक ही एक ऐसा खेल है जो वास्तवमें खेल होते हुए भी शिक्षापीठ बना रहता है। उसके प्रत्येक अंगमें कुतूहल उत्तेजित करनेकी सामग्री भरी रहती है। नाटकका चुनाव बालकोंकी विवेचना-शक्ति तथा रुचिका परिष्कार और सम्वर्द्धन करता है। वेशभूषा आदि एकत्र करना और निर्माण करना उनकी कला-प्रियता बढ़ाता है। भूमिका ग्रहण करके अभिनय करना उनकी भाव-प्रकाशन-शक्तिको बल और सौन्दर्य प्रदान करता है तथा नाटककी आयोजना

करके उसका प्रदर्शन करना उन्हें संघटन, व्यवहार तथा प्रबन्ध करनेका कौशल सिखाता है। इसके अतिरिक्त नाटकसे भाषा, कथा और भावोंका जो ज्ञान होता है वह तो होता ही है। अतः भाषाके अध्यापकोंको चाहिए कि प्रति सप्ताह या पक्षमें छोटे छोटे अच्छे भावपूर्ण तथा उपदेशपूर्ण एकांकी नाटक लिखकर बालकों से अभिनय करायें।

२—कहानी

कक्षामें प्रयोग करने योग्य दूसरा खेल है—कहानी। कहानीकी ओर छात्रोंकी ही क्या, बड़े-बूढ़ों तककी स्वाभाविक रुचि होती है किन्तु कहानी कहने गढ़नेकी कला अध्यापकको अवश्य आनी चाहिए। कहानी कहते समय आँख, मुँह, हाथ, सिर कैसे हिलने-डोलने चाहिए, किन बातोंकी पुनरावृत्ति करनी चाहिए, किन स्थलोंपर बल देना चाहिए ये सब बातें कथा-कौशलसे सम्बन्ध रखती हैं। और इनका ज्ञान अध्यापकके लिये अत्यन्त अपेक्षित है। पहले राजाओंके यहाँ कहानी कहनेवाले पारिषद होते थे जो राजकार्योंसे थके हुए राजाओंका मन बहलानेके लिए उनके साथ-साथ ही रहा करते थे। विदूषक भी कुछ इसी प्रकारके होते थे किन्तु अध्यापकको विदूषकत्वकी श्रेणीतक पहुँचनेका प्रयास नहीं करना चाहिए नहीं तो बालक-बानर उनका ठहरना भी कठिन कर देंगे।

कहानी कहनेके लिए उचित अवसर भी देख समझ लेना चाहिए और जहाँ तक हो सके छोटी कहानियाँ या चुटकुले ही अधिक सुनाने चाहिए।

३—हस्तलिखित पत्रिका

कक्षा या विद्यालयकी ओरसे हस्तलिखित मासिक

पत्रिकाओंके प्रचारने भी बालकोंको अधिक आकर्षित किया है। देखा गया है कि जिन विद्यालयोंमें कक्षा-पत्रिकाका प्रचलन है वहाँ छात्रोंमें लेख, कविता या कहानी लिखनेकी होड़सी लगी रहती है और वे बड़े चावसे उसमें लिखते हैं क्योंकि इससे उनकी आत्म-विज्ञापनकी भावना सरलतासे संतुष्ट हो जाती है।

४—अन्य खेल

पहेली, बुझौवल, रूढ़ोक्तियाँ तथा लोकोक्तियोंका प्रयोग, अन्त्याक्षरी-प्रतियोगिता, सूक्ति-संग्रह करके उन्हें स्वच्छतासे लिखकर कक्षाकी भीतोंपर टाँगना, साहित्यिक महापुरुषोंके जन्मदिवसोत्सवोंका आयोजन करना आदि ऐसे सार्थक खेल या उत्सव हैं, जिनसे छात्रोंका भाषाज्ञान और साहित्य-ज्ञान भली भाँति बढ़ सकता है।

कुछ लिखित खेल भी ऐसे हैं जिनसे कुतूहलके साथ ज्ञान भी बढ़ सकता है। जैसे—( अ ) अक्षर कहकर शब्द कहलाना। कक्षाके दो दलोंमें से एक दल कहता है 'ज' दूसरा दल तत्काल 'ज' से प्रारम्भ होनेवाला शब्द कहता है—जलज। ( आ ) एक जातिसे कई शब्द देकर उनके साथ एक शब्द असंगत दे दिया जाय और उसे छुँटवाया जाय। जैसे—

कोयल, मोर, पपीहा, हाथ, गौरैया। इसमें चार पक्षियों के नाम हैं, उनमें, 'हाथ' असंगत है।

( इ ) उचित क्रिया निकलवाना। जैसे—

गौः............

गजः............

कोकिलः............

सिंहः.............

ऊपरके रिक्त स्थानोंमें नीचे लिखी क्रियाओंको उचित स्थानपर लिखो—

'नदति, रम्भते, गर्जति, कूजति ।'

इसी प्रकार विशेषण, विशेष्य, क्रिया-विशेषण आदिका अभ्यास कराया जा सकता है।

( ई ) कई उत्तरोंमें से उचित उत्तर निकलवाना जैसे—कालिदासजी बड़े भारी कवि थे। क्योंकि—

१ - उनकी स्त्रीने उन्हें निकाल दिया था।

२—वे काशीमें रहते थे।

३ –उन्होंने अनेक सुन्दर काव्योंकी रचनाकी है।

उपयुक्त उत्तरोंमें से ठीक उत्तर चुन लो। ( उ ) अक्रम तथा अनर्थक शब्दावलीसे सक्रम या सार्थक वाक्य बनाना। जैसे—"रामकी पत्नी रावणने अपनी अशोक वाटिकामें उनकी राक्षसियोंको हर ले जाकर रक्खा और रखवालीके लिए सीताजीको नियुक्त किया।"

सक्रम वाक्य यों होगा—

रावणने रामकी पत्नी सीताजीको हर ले जाकर अपनी अशोकवाटिकामें रक्खा और राक्षसियोंको उनकी रखवालीके लिए नियुक्त किया।'

ऐसे अनेक प्रकारके सार्थक खेल अध्यापक स्वयं सोच-विचार कर बना सकते हैं और यथावसर प्रयोग कर सकते हैं।

# प्रूफ-संशोधन

इसी प्रसंगमें हम एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयकी ओर हिन्दीके अध्यापकोंका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं, वह है प्रूफ संशोधन। नित्य हमें निमन्त्रणपत्र, अभिनन्दनपत्र इत्यादि छपवाने पड़ते हैं। उनके लेखक प्रायः स्कूल-कॉलेजों-के भाषाके अध्यापक ही होते हैं। वे लिखकर तो दे देते हैं किन्तु जब वह प्रेससे कंपोज होकर आता है तो वे प्रेसकी बातोंसे अनभिज्ञ होनेके कारण उसे पूर्णतः शुद्ध नहीं कर पाते। अतः यहाँ हम प्रूफ-संशोधन करनेकी विधि स्पष्टतया बता देते हैं जिससे नागरी भाषा और हिन्दी साहित्यके अध्यापकको सरलता हो।

प्रूफ देखनेके निम्नलिखित संकेत हैं जिन्हें प्रत्येक कंपोजिटर पहचानता है। नीचे प्रत्येक चिन्हके आगे उसका अर्थ भी समझा दिया है।

// रेखाङ्कित भाग टेढ़े अक्षरोंमें करो।

╪ अंतर कम करो।

ɭ पंक्तिके शब्दोंके बीच ठीक अन्तर दो।

ϛ/ उल्टा कौमा लगाओ।

𝓁 मध्य आकार की पड़ी पाई लगाओ।

व यदि टाइप बदलवाना हो तो एक पड़ी पाई देकर उस पर उस टाइपका पहला अक्षर लिख देना चाहिये जिस टाइपका प्रयोग करना हो। यहाँ व का अर्थ वर्जिक टाइपसे है।

निकाल दो।

यह निकालकर मिला दो।

अलग करो।

मिला दो।

दबा दो ( स्पेस उभड़ जानेपर )।

इधरका उधर करो।

भूलसे कटा है ज्योंका त्यों रहने दो।

बीचमें डालो।

मात्रा छूटी है लगाओ।

बाएँको खींचो।

दाएँको खींचो।

एकसाथ चलाओ। नया अनुच्छेद नहीं है।

यहाँसे नया अनुच्छेद है।

अक्षरोंको एक सीधमें करो।

पंक्तियोंको एक सीधमें करो।

ठीक करो, सीधा करो, टाइप बदलो।

दूसरे आकारका (फौंटका) अक्षर है बदलकर ठीक करो।

कभी कभी दो पंक्तियों के बीचमें स्थान कम रहता है या अधिक रहता है वहाँ पंक्तियोंके बीचमें रेखा खींचकर दाईं या बाईं ओर अलग करने या अंतर कम करनेवाला चिन्ह बना देना चाहिए।

कभी कभी कम्पोज करनेवाले भूलसे कुछ सामग्री छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं। ऐसे स्थानों पर उस स्थानके बीचसे रेखा खींचकर एक ओर 'प्रेस छूट—कापी देखो' लिख देना चाहिए और साथ ही कापीकी पृष्ठसंख्या भी लिख देनी चाहिए तथा पाण्डुलिपिमें उतने अंशको रेखांकित कर देना चाहिए। नीचे प्रूफ-संशोधनका उदाहरण दिया जाता है।

नीचे लिखी सामग्री मुद्रण-यंत्रालयमें छपनेको दी गई—

२४ ॥

एक खिलाड़ी बालक

मोहन अपने गाँवका सबसे बढ़कर नटखट बालक समझा जाता था। उसके धनहीन माँ-बाप सब तरहसे उसे समझा-बुझाकर थक गए और उसे उन्होंने मारपीटकर घरसे बाहर निकाल दिया।

वह गाँवसे बाहर निकलकर सड़कपर आ बैठा तो देखता क्या है कि अपने बिलोंकी ओर गाती हुई छोटी-छोटी चींटियाँ बड़े वेगसे चली जा रही हैं।

'भले बनो नटखटपन छोड़ो।
काम करो घरमें धन जोड़ो ॥'

इसका प्रूफ इस प्रकार मुद्रण-यंत्रालयसे आया है—

## एकक खिलवाड़ी बालक

मोहनअपने गाँव का सबसे बढ़कर नटखट
ाकल समझा 'था जाता उसके धनहीन
मा—बाप सब तरहसे उसे समझाबुझाकर थक
गए

आर उसे मा३पटक३ घरसे बाह१ निकाप
दया। वह गांवसे बाहर निकलकर सकड़पर आ
बैठा तो देखता क्या है कि छोटी-छोटी चीटीया
बड़े वेगसे चली आ रही है
अले बनो नटखटपन छोड़ो

काम करो घरमे घन जोड़ो॥

उपर्युक्त लेखका संशोधन इस प्रकार होना चाहिए—

एकक खिलआड़ी बालक

मोहन अपने गाँव का सबसे बढ़कर नटखट
बालक समझा था जाता उसके धनहीन
माँ-बाप सब तरहसे उसे समझाबुझाकर थक
गए
और उसे मार पटककर घरसे बाहर निकाल
दिया। वह गाँवसे बाहर निकलकर सड़कपर आ
बैठा तो देखता क्या है कि छोटी-छोटी चींटीयाँ
बड़े वेगसे चली आ रही हैं।
भले बनो नटखटपन छोड़ो।
काम करो घरमें धन जोड़ो॥

अशुद्धियाँ ठीक करके मुद्रण-यंत्रालय इस प्रकार छाप-कर देगा—

## एक खिलाड़ी बालक

मोहन अपने गाँवका सबसे बढ़कर नटखट बालक समझा जाता था। उसके धनहीन माँ बाप सब तरहसे उसे समझा-बुझाकर थक गए और उसे उन्होंने मारपीटकर घरसे बाहर निकाल दिया।

वह गाँवसे बाहर निकलकर सड़कपर आ बैठा तो देखता क्या है कि अपने बिलोंकी ओर आती हुई छोटी-छोटी चीँटियाँ बड़े वेगसे चली जा रही हैं।

'भले बनो नटखटपन छोड़ो।
काम करो घरमें धन जोड़ो॥'

कुछ प्रूफ-संशोधक लोग बहुत रेखाएँ खींचकर प्रूफ बड़ा गंदा कर देते हैं जिसको देखकर कम्पोजिटर खीझ उठते हैं। ऐसा कभी न करना चाहिए। प्रूफका संशोधन उसी प्रकार स्पष्टतासे करना चाहिए जैसा ऊपर दिखलाया गया है। स्थान न रहने पर बहुत स्वच्छ रीतिसे रेखा खींचनी चाहिए जैसे ऊपर प्रूफकी छठी पंक्तिमें 'उन्होंने' बनाया गया है। कभी कभी कंपोजिटर टाइप घट जाने पर उस अक्षरको बड़े विचित्र ढंगसे बना देते हैं जैसे 'ब' के घट जाने पर इस तरह 'ब़' (आधे ब में आकारकी मात्रा)

बना देते हैं। प्रूफ संशोधनके समय खूब ध्यान रखना चाहिए और ऐसे अक्षरोंको काटकर निकाल देना चाहिए। कभी-कभी प्रूफमें एक विशेष अक्षरके स्थान पर कई उल्टे अक्षर लगे हुए मिलेंगे। ऊपर दिए हुए प्रूफकी छठी पंक्तिमें 'र' के स्थान पर उल्टा आधा स (ѕ) लगा हुआ है। इसको टन्नप ('टर्न्ड अप' का अपभ्रंश) कहते हैं इसका अर्थ यह होता है कि कंपोज करते समय यह टाइप केसमें (डब्बेमें) चुक गया है।

संशोधन एक क्रमसे करना चाहिए। कभी-कभी कुछ महाशय अक्रम संशोधन करते हैं और कंपोजिटर भी उसी प्रकार संशोधन कर देते हैं। फल यह होता है कि शुद्ध होनेके बदले वह और भी अशुद्ध हो जाता है। प्रूफ-संशोधन एक कला है। इसका भली प्रकार अभ्यास कर लेना चाहिए।

---

# सयानोंकी शिक्षा

हमारे देशमें अनिवार्य्य शिक्षा न होनेके कारण अभी लगभग तिरासी प्रतिशत स्त्री-पुरुष ऐसे हैं जिनके लिये काला अक्षर भैंस बराबर है। इस समय देशमें एक सांस्कृतिक और राजनीतिक जागर्त्ति हुई है किन्तु शिक्षाकी कमीके कारण उस जागर्त्तिका न तो वास्तविक उपयोग किया जा सकता है न उसे चिरस्थायी बनाया जा सकता है। वह जागर्त्ति झंझाके समान प्रबल तो है किन्तु उतनी ही अस्थिर भी है उसका कारण यही है कि उसमें शिक्षाका अभाव है।

राजनीति-विचक्षणोंका विचार है कि प्रत्येक सयानेमें पाँच प्रकारके भाव होने चाहिएँ:—

१. भाषाका भाव—सामाजिक जीवनमें कमसे कम जितनी लिखने-पढ़नेकी आवश्यकता पड़ती है उतना ज्ञान अवश्य हो अर्थात् अक्षर-ज्ञान, पत्रादि लिखनेका ज्ञान तथा अपने भाव उचित भाषामें प्रकट कर सकनेका ज्ञान हो।

२. नागरिकताका भाव—अपने गाँव या नगरके राज-कर्मचारियोंसे सम्बन्ध, उनसे व्यवहार, परस्पर सद्भाव तथा सेवा, सड़क, रेल तथा डाकके साधारण नियमोंसे परिचय हो।

३. स्वास्थ्य-भाव—अपने शरीर, घर, पास-पड़ोसको स्वच्छ रखना, आकस्मिक चोट लगने या बीमार होने पर तात्कालिक कर्त्तव्य जानना, नशेबाजीसे दूर रहना।

४. व्यावसायिक भाव—अपने गाँव या नगरमें उत्पन्न या तैयार हो सकनेवाली वस्तुओंका ज्ञान तथा उनके विक्रयस्थानोंका ज्ञान हो। खेतसे या खेतके बाहर उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंसे क्या लाभ उठाया जा सकता है इसका ज्ञान हो। अपना हिसाब-किताब रखने तथा आमदनीसे अधिक खर्च न करनेकी बुद्धि हो।

५. देशभक्तिका भाव।

उपर्युक्त भावोंको पुष्ट और उन्नत बनाने के लिये सयानों को दो प्रकारसे शिक्षा देनी चाहिए। एक तो कक्षा-प्रणाली द्वारा और दूसरे प्रचार द्वारा। भाषा सिखानेके लिये तो कक्षा-प्रणालीका प्रयोग आवश्यक है किन्तु कक्षा-प्रणालीकी व्यवस्था करनेसे पूर्व सयानोंकी मनोवृत्ति, भारतकी आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियोंका ध्यान रखना भी अपेक्षित है। सयानोंको शिक्षा देनेवालोंको नीचे लिखी बातें समझ लेनी चाहिएँ।

१—सयानेको बालक न समझो, वह निरा अबोध नहीं होता उसने अनुभव तथा सम्पर्कसे बहुत सा ऐसा ज्ञान संचित कर लिया है जो संभवतः उनका अध्यापक भी न जानता होगा। उसकी बुद्धि पक गई है, उसकी विचार-धारा नियमित हो चुकी है, उसके संस्कार बन चुके हैं। अतः उसकी बुद्धि, विचारधारा और संस्कारको माँजने भरकी कसर है। उसे सैकड़ों, हजारों दोहे और चौपाई कण्ठस्थ हैं। उसे अक्षर-ज्ञान करा दीजिए, उसकी स्मृति और मेधा स्वयं अपनी सामग्री जुटा लेंगी।

२—वह सामाजिक प्राणी हो गया है, उसे अपनेसे छोटे लोगोंकी कक्षामें बैठनेमें लज्जा लगती है, संकोच होता है।

अवस्थामें या पदमें अपनेसे छोटे व्यक्तिको भाषा-ज्ञानमें उन्नत होते देखकर वह भाग खड़ा हो सकता है।

३—भारत दीन देश है। उसके पास पेट भरनेके साधन भी नहीं हैं। वह पढ़ाईके लिये पैसा कहाँसे लावे। करदाता पहलेसे ही बोझसे दबे हैं, उन्हें और दबाना अन्याय है।

४—हमारे देशमें अनेक मत और सम्प्रदाय हैं। सबकी सांस्कृतिक आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न हैं। एक सीताराम रटता है तो दूसरा राधेश्याम जपता है।

५—ऊँची जातिके लोग छोटी जातिके अध्यापकोंसे पढ़ना बुरा समझते हैं।

६—हमारे देशके किसानको वर्षमें केवल पन्द्रह दिनकी छुट्टी तब मिलती है जब वह अनाज काटकर घरमें रख चुकता है। दिन भर काम करके सन्ध्या समय वह पढ़नेमें जी नहीं लगा सकता।

७—सामाजिक, धार्मिक तथा जातीय पर्वों और उत्सवोंके कारण यह सन्ध्याकी पढ़ाई भी निरन्तर अधिक दिनों तक नहीं चल सकती। सयाने लोग दस दिनसे अधिक कक्षा-प्रणालीमें नहीं ठहरते। उन्हें शीघ्र ज्ञानकी आवश्यकता है। वे प्रतीक्षा नहीं कर सकते।

इन सब बातोंपर विचार करके हमने केवल दस दिनकी कक्षा-शिक्षाका विधान किया है जिसमें बिना व्ययके अक्षर-ज्ञान करा दिया जाय। इस प्रणालीमें नागरी वर्णमालाके क्रमका भी ध्यान रक्खा है साथ ही सयानोंकी मनोवृत्तिका भी ध्यान रक्खा है। पहले ही दिनसे वे शब्द और वाक्य बनाना सीख जाते हैं। इसलिये उन्हें पढ़ना भी नहीं अखरता।

पहले विशेषकर पूर्वीय प्रान्तोंमें जमीन पर लम्बे तख्ते-

की तरह मिट्टी थोड़ी ऊँचाई तक बिछाकर उसे पीटपाट कर काली कर देते थे और उसी पर पंक्तिमें बैठकर खड़ियासे लिखते थे। प्रायः गङ्गा या सरयूकी मिट्टीकी ही लम्बी-लम्बी कलम सी मोटी पिण्डी बनाकर काममें लाते थे। इसीको पाठकी शिक्षा कहते हैं। यह पद्धति हमारी बहुत पुरानी है। खड़ियासे लिखनेकी प्रथाका थोड़ा संकेत नैषधकारने भी अपने नैषधीयचरितमें किया है। आजकल हमारे स्कूलोंमें पाठकी पट्टियाँ एवं स्लेटोंने अपना अधिकार जमा लिया है। धीरे-धीरे सूखी खड़ियाको छोड़ हम गीली खड़ियासे कलमसे लिखने लगे और कक्षाओंमें कागज पर स्याहीसे। इससे कपड़े एवं शरीरके गन्दे होनेका भय तो सदा बना रहता है। प्राइमरीके छात्र तो इसीसे कालेसे हो जाते हैं और सयाने भी उसके प्रयोगसे गन्दे हो जा सकते हैं। अतः बालू बिछाकर उँगलीसे लिखवाकर लोगोंको वर्णज्ञान कराना चाहिए। थोड़ा सीखनेके बाद फिर पतली लकड़ियों द्वारा लिखाया जाय। यह विधि इस दरिद्र भारतके लिये बहुतही सुलभ और सुगम है। इसमें कपड़े एवं शरीरकी गन्दगीका कोई अवसर ही नहीं आता और बिना पैसेके काम चल जाता है।

### सयानोंको भाषा-शिक्षा देनेके कुछ नियम

सयानोंकी पाठशालाओंमें शिक्षा देनेवाले शिक्षकोंकी सुगमताके लिये निम्नाङ्कित बातें जाननी परमावश्यक हैं।

क. जमीन पर बालू बिछाकर उँगली या लकड़ीसे अक्षर-का ज्ञान कराना।

ख. व्यवहारमें आनेवाले शब्दोंका संग्रह कर उनका उपयोग करनेकी शैली बताना।

ग. पढ़ना सिखाना।

( १ ) अक्षर-ज्ञान हो जाने पर ऐसी पुस्तकें उनके सामने रक्खी जायँ जिन्हें वे जानते हों या कमसे कम जिनके नाम से वे परिचित हों जैसे रामायण, हनुमान-चालीसा आदि।

( २ ) सरणी बनाकर ऐसे शब्दोंके आकार-प्रकारसे उन्हें परिचित करा देना चाहिए जिन्हें वे पहले जान चुके हों। विशेषकर ऐसे शब्दोंकी ओर उनका ध्यान अवश्य दिलाना चाहिए जो उनके दैनिक कार्योंमें व्यवहारके रूपमें आते हों जैसे देवताओं, महापुरुषों, दिन-मासोंके नामादि।

घ—प्रौढ़ोंके लिये पुस्तकालय या वाचनालय विशेष हितकर नहीं सिद्ध हो सकते क्योंकि उनके पास इतना समय ही कहाँ है। रामायण ही उनका पुस्तकालय हो जो सदा उनके साथमें रहे और जिससे वे जंगम पुस्तकालयका काम ले सकें। वाचनालयोंकी व्याधिसे उन्हें बचाना होगा। कारण यह कि आज जैसी सिद्धान्तहीन पत्र-पत्रिकाएँ अपना प्रचार मात्र करनेके लिये निकाली जा रही हैं उनके पढ़नेसे मानव-समाज अपना, स्वतन्त्र विचार नहीं रख सकता। दूसरे हमारे पारस्परिक विद्रोहके कारणोंमें ये पत्र भी एक कारण हैं।

ङ—सङ्गीत तो जीवनमें आनन्द लानेके लिये बड़ी ही अद्भुत वस्तु है। प्राचीन पद्धतिकी तरह यदि उन्हें ढोल और झाँझ पर भजन आदि गाने को प्रवृत्त कर सकें तो इससे उनका बहुत हित हो सकता है।

## स्थानीय उत्सवोंकी व्यवस्था

च. जिस स्थानमें प्रौढ़ पाठशाला हो वहाँके उत्सवोंपर

ध्यान रखना होगा। जिस व्रत या उत्सवका समय आवे उसका रहस्य बता कर उसकी विधि भी बतानी चाहिए और जो उसमें कोई तात्कालिक दोष आ गए हों उन्हें उनकी सम्मति के अनुसार परिवर्त्तन करनेका प्रयत्न भी करना कराना चाहिए। ऐसा न हो कि हमारे इस कामसे उन लोगोंके अन्तःकरणमें किसी प्रकारकी चोट पहुँचे। इस अवसरपर शिक्षकको अपनी संस्कृतिकी छाप उन लोगों पर नहीं डालनी चाहिए। जैसी उनकी संस्कृति या प्रवृत्ति हो तदनुसार ही उसमें संशोधन या परिवर्द्धन उचित होगा।

व्याख्यानसे अधिक रुचिकर एवं हितकर पुराणों एवं शास्त्रों की कथा-वार्त्ता एवं प्रवचन होंगे। यद्यपि नगरोंकी हवा कुछ बदल सी गई है पर देहात अभी बहुत कुछ प्राचीनतासे बँधे हैं। उन्हें पुराणोंकी कथा बड़ी प्रिय एवं रुचिकर होती है। हाँ, इस कार्यमें इस बातका ध्यान रखना होगा कि जो कथावाचक हों वे उसके पूर्ण मर्मज्ञ और अपने भावोंको प्रकट करनेमें कुशल कलाकार हों। साथ ही उनका चरित्र बड़ा स्वच्छ एवं सरल हो जिसका प्रतिबिंब उनके हृदय पर पवित्र पड़े। उत्सवों या कथाओंमें हमें एक बातका ध्यान रखना होगा कि वहाँके किसी प्रकारके व्यवहारसे किसीकी जातिगत या व्यक्तिगत भावनाओंको किसी प्रकारकी चोट न लग सके।

छ—सयानोंको इतनी शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे पूर्ण नागरिक बन जायँ अर्थात् वे बोलने एवं लिख लेनेमें किसी प्रकारका संकोच न कर सकें। कहीं उन्हें ऐसा न प्रतीत हो कि मैं बोल नहीं सकता या लिख नहीं सकता। वे अपने जीवनसंग्राममें एक वीरकी तरह उन्नतमना होकर

सफल कहे जायँ। ऐसा न हो कि उन्हें स्टेशनों, डाकखानों, बैंकों या कचहरियोंमें अपना काम कर लेनेमें किसी प्रकार की कठिनाई या जानकारीकी कमीका अनुभव करना पड़े।

## सयानोंके लिये दस दिनका भाषा-शिक्षण-क्रम

### पहले दिन

१

अ ा इ ि उ ु ए
ि ी ु ू े ै ो ौ ं ँ
आ आओ आइए
आऊँ आई एँ
ए उइ

### दूसरे दिन

२

क ख ग घ य र ल व

कई, आँख, आग, कंघी, गाओ, गऊ, गए गई, कौआ, कौए, घर, गाय, लाओ आदि

कई कौए आगए।

कल गऊ गई। घर वाले आए।

बाघकी आँख आ गई।

आग आई। कंघी लाओ। इत्यादि।

### तीसरे दिन

३

च छ ज झ श स ह

चाक, चौंच, छुक, छाज, झाँझ, जाँच, कान, काँच, खींच, खोज .. झ, गच, गज, चक्की आदि।

(इन शब्दोंसे वाक्य बनाकर यथापूर्व अभ्यास कराया जाय।)

## चौथे दिन

४

ट ठ ड ढ त थ द ध न

काँटा, टाँका, टका, टोकरी, ठेला, डलिया, डोला, ढोल, ढाक, ढूँढ़ो, ढूँढ़ी, ढेला, घोड़ा, गधा, ऊँट आदिसे वाक्य .ाकर यथापूर्व सिखाया जाय।

## पाँचवे दिन

५

प फ ब भ म श्री द्य द्द ट्ठ ड्ड त्त प्र

श्रीराम, आद्या प्रसाद, गद्दा, लट्ठा, भद्दा, भड्डर, पत्ता, प्रान, आप, नागफनी, फुनगी, फाग, फगुआ, भाग, भंगी आदि शब्दोंसे वाक्य बनाकर सिखाया जाय जैसे—

हमारे गाँवमें कोई आलसी नहीं है।

## छठे दिन

६

उक्तियाँ, दोहे आदि सिखाए और लिखाए जायँ जैसे—

साँच बरोबर तप नहीं झूठ बरोबर पाप।
जाके हिरदे साँच है वाके हिरदे आप॥

## सातवें दिन

७

सम्बन्धियोंको पत्र लिखना सिखाना, सौ तक गिनती गिनाना।

## आठवें दिन

८

निमन्त्रण-पत्र आदि लिखना सिखाना। जोड़ना और घटाना।

## नवें दिन

९

पोथी पढ़वाना। रुपये पैसेका हिसाब रखना सिखाना।

## दसवें दिन

रामायण पढ़वाना। पाठ समाप्त।

इसका तात्पर्य्य यह है कि थोड़े-थोड़े अक्षर नित्य सिखाए जायँ। एक घण्टेसे अधिक पाठ न पढ़ाया जाय। बार-बार अक्षर, शब्द तथा वाक्य दुहराकर लिखवाए जायँ। गणित भी केवल जोड़ने तक ही परिमित रहे।

इस ज्ञानको चिरस्थायी बनानेके लिये यह आवश्यक है कि सयानोंकी रुचिके अनुसार उनके योग्य ग्राम-गीतों (कजरी, आल्हा इत्यादि) तथ रामायणकी पोथी मोटे अक्षरोंमें छपी हुई दी जाय जिससे उनकी सुरुचिकी रक्षा भी हो और उनका भाषाज्ञान बढ़ता रहे आजकल

सयानोंके लिए कुछ पोथियाँ लिखी गई हैं जिनमें केवल कोरे उपदेश भरे रहते हैं या फिर कौंसिल, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड इत्यादिके संगठनका विवरण रहता है। हम पहले कह चुके हैं कि सयानोंको एकदम ज्ञानशून्य, मूढ़ और जड़ नहीं समझ लेना चाहिए। जो पाठ्य-सामग्री उन्हें दी जाय वह रुचिकर हो।

× × × ×

## अन्धोंको पढ़ाने का विधान

हमारे देशमें अन्धोंकी समस्या भी कठिन हो गई है। कुछ लोग तो जन्मान्ध हैं किन्तु कुछ लोग किसी रोगके कारण अन्धे हो जाते हैं। ऐसे लोग हमारे देशमें बेकार समझे जाते हैं। दूसरे उन्नत देशोंमें इन्हें बेकार नहीं रहने दिया जाता और इन्हें उचित शिक्षा दी जाती है। भारतमें भी कुछ स्थानों पर अन्धोंके स्कूल हैं जहाँके विद्यार्थियोंने हाई स्कूल, इण्टर और बी० ए० तक पास कर लिया है। इन लोगोंके लिये लिखने और पढ़नेकी पद्धति ब्रेल-पद्धति कहलाती है।

## ब्रेल पद्धति

एक लकड़ीके तख्ते पर पीतलका यन्त्र लगा देते हैं जिसमें दो पंक्तियोंमें चौबीस छोटे-छोटे चौकोर घर बने रहते हैं। एक एक घरमें इस प्रकार ( ∶ ∶ ) छः छेद बनानेके चिह्न बने रहते हैं। इस यन्त्रके बीचमें मोटा कागज फँसा दिया जाता है और फिर एक प्रकारके सूएसे अक्षरके अनुसार दाएँसे बाएँको छेद करते चले जाते हैं। छेद कर चुकने पर कागज निकाल लेते हैं। उसको उलटकर देखनेसे

उभड़े हुए छेदोंको टटोल-टटोलकर अन्धे लोग पढ़ते हैं। उसकी नागरी-वर्णमालाके चिन्ह इस प्रकार हैं

| अ | आ | इ | ई | उ | ऊ | ऋ | ऌ | ए | ऐ | ओ | औ | क |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ख | ग | घ | ङ | च | छ | ज | झ | ञ | ट | ठ | ड | ढ |
| ण | त | थ | द | ध | न | प | फ | ब | भ | म | य | र |
| ल | व | श | ष | स | ह | क्ष | ज्ञ | ड़ | ढ़ | ं | ः | ँ |

इन छः बिन्दुओंके भी अलग-अलग नाम हैं जैसे—

| बाएँ | दाएँ |
|---|---|
| १ | २ |
| ३ | ४ |
| ५ | ६ |

अन्धे बालकोंको यदि क ख ग पढ़ाना होगा तो पहले उन्हें यह याद कराया जायगा—

एक दो तीन पाँच (क) (ऊपर देखिए)
एक दो पाँच (ख) ( ,, )
एक दो चार छः (ग) ( ,, )

जब यह क्रम याद हो जायगा तब उन्हें पहले बड़ी-बड़ी पत्थरकी गोलियों पर फिर कीलोंकी बनी हुई पटरी पर और फिर उपर्युक्त कागजों पर छुआकर अभ्यास कराया जायगा। उस प्रकार अन्धे लोग लिखते और पढ़ते हैं उन लोगोंकी सभी पुस्तकें इन्हीं उठे हुए अक्षरोंमें बनाई जाती हैं।

---

# परीक्षाके उद्देश्य और उसकी व्यवस्था

आजकल हमारी शिक्षा-प्रणालीमें जो दोष आगए हैं उनका मूल कारण हमारी परीक्षा-प्रणाली है। हम पढ़ानेके लिये परीक्षा नहीं लेते वरन् परीक्षाके लिये पढ़ाते हैं। परीक्षा प्रारम्भ होनेसे कुछ पूर्व अध्यापकों तथा छात्रोंकी सम्पूर्ण शक्ति यह पता चलानेमें लग जाती है कि अमुक पर्चा किसका है, वे कैसे हैं, किस प्रकारके प्रश्न देते हैं आदि। यह ज्ञान हो गया तब तो बहुत कुछ बोझ हलका हो गया। यदि कुछ भी पता न चला तो पूछी जाने योग्य (इम्पोर्टैंण्ट) बातों पर अटकल लगाई जाती है। अध्यापक लोग अपने-अपने अनुभवकी दुहाई देकर पुस्तककी पंक्तियों-के नीचे लाल-लाल रेखाएँ खिचवाते हैं। बेचारा भारतका विद्यार्थी अनाश्रित, पीड़ित और अन्धभक्त, गुरुवचनकी नावका सहारा लेकर परीक्षा-नदीमें कूद पड़ता है और पार भी हो जाता है। पर जो कुछ उसने वर्ष भरमें पढ़ा-लिखा है उसमेंका कितना प्रतिशत ज्ञान उसने ग्रहण किया है इसका कुछ पता नहीं चलता।

अब परीक्षा-प्रणाली पर आइए। कंजूस भी अपने धन-को इतने जतनसे नहीं रखते जितने जतनसे रजिस्ट्रार या हेड-मास्टर लोग परीक्षाके पर्चोंको रखते हैं। मुहरबन्द लिफाफे, लोहेके सन्दूक और छः लीवरके भारी ताले उनकी रक्षा करते हैं। इसे परीक्षा-नीति कहते हैं। इसके कानून संसार-से अलग हैं। एक चोर चोरी करता है तो उसे छः महीनेकी

सजा होती है किन्तु जब एक बालक परीक्षा-भवनमें एक कागजका टुकड़ा ले जाता है—जानकर या अनजानमें—तो उसे कमसे कम दो वर्षकी सजा मिलती है, दो वर्ष फीस देनी पड़ती है और मानसिक यातनाओंका नरक उसके लिये खुल जाता है। शालाका प्रत्येक व्यक्ति उसकी ओर उँगली उठाता है, समाज उसे निकम्मा ठहराता है, घरवाले उसे कुलकलंक समझते हैं। चोर और हत्यारोंसे भी बुरी उसकी दुर्दशा हो जाती है। चालीस बरसके ऊपरसे शिक्षामें मनोविज्ञानका डङ्का पीटा जा रहा है पर परीक्षाके समय वह भी तालेमें बन्द कर दिया जाता है।

हमारे परीक्षकों और निरीक्षकोंकी तो बात न पूछिए। वे इसी ताकमें लगे रहते हैं कि कब कोई जँभाई लेता हुआ, किसीकी ओर देखता हुआ दृष्टिगोचर हो, कब किसी की जेबमेंसे कागजका टुकड़ा झाँके और वे उसे पकड़ें। मनो-विश्लेषणशास्त्रियोंका कहना है कि जो दूसरोंके दोष निकालनेका प्रयत्न करते हैं वे स्वयं दोषी होते हैं। ऐसे अध्यापकोंको शिक्षाके पवित्र क्षेत्रको छोड़कर पुलिसमें नौकरी ढूँढ़नी चाहिए। ठीक यही बात परीक्षकोंकी है। उनके पास जब परीक्षाकी कापियाँ जाती हैं तो वे भाग्य-विधाता बनकर, सत्यवादी हरिश्चन्द्र तथा न्यायकर्त्ताके अवतार बन तौल-तौलकर नम्बर देते हैं, कापियाँ भी पूरी नहीं पढ़ते, पुरानी शत्रुता भी निकालते हैं। ऐसे सभी परीक्षकोंको जाकर चायकी दूकान खोल लेनी चाहिए।

स्मरण रखिए—शिक्षक सदा शिक्षक होता है चाहे वह परीक्षा-भवनमें हो या परीक्षकके रूपमें। वह पथप्रदर्शन

करता है, कल्याण करता है। वह राग द्वेषसे परे है। सारा मानव-समाज उसका शिष्य है। उसके कल्याणके लिये शिक्षकने जन्म लिया है। वह किसीका भाग्य बना या बिगाड़ नहीं सकता। यह उसके सामर्थ्यके बाहर है, उसका अज्ञान है, भ्रम है। हम सबके सिरपर एक महाशक्ति काम कर रही है। जिस दिन मनुष्य उसका काम स्वयं सँभालनेकी इच्छा करेगा, वह मनुष्यतासे गिर जायगा। वह महाशक्ति अपराधीको क्षमा नहीं करती।

तो परीक्षाका उद्देश्य क्या है। परीक्षाका उद्देश्य यह है कि—

( १ ) विद्यार्थीकी बुद्धि-गंभीरताका परिचय मिले।
( २ ) विद्यार्थीके अर्जित ज्ञानकी थाह लगे।
( ३ ) अर्जित ज्ञानका प्रयोग करनेमें उसकी कुशलताका ज्ञान हो। अर्थात् उसने जो पढ़ा है वह गुना भी है या नहीं यह ज्ञात हो।
( ४ ) आगेके पाठ-भारको वहन करनेकी उसकी योग्यताका ज्ञान हो।
( ५ ) अर्जित ज्ञानके आधार पर उसकी मनोवृत्ति तथा जीविका-वृत्तिकी पहचान हो सके।
( ६ ) उसकी धारणा-शक्ति या स्मरण-शक्तिका ज्ञान हो।
( ७ ) उसकी कार्य्य-क्षमताका परिचय मिले।

उपर्युक्त उद्देश्योंकी पूर्त्तिके साधन तथा नवीन-परीक्षा-प्रणालियोंका स्वरूप बतानेसे पूर्व हम भारतीय प्राचीन-परीक्षा प्रणालीका भी परिचय दे देना आवश्यक समझते

। आर्योंमें यह प्रथा थी और अब भी है कि अन्नप्राशन-संस्कारके समय बालककी जीविका-परीक्षा ली जाती थी।

कृतप्राशनमुत्सङ्गाद्धात्री बालं समुत्सृजेत्।
कार्यन्तस्य परिज्ञानं जीविकाया अनन्तरम्॥
देवताग्रेऽथ विन्यस्य शिल्पभांडानि सर्वशः।
शास्त्राणि चैव शस्त्राणि ततः पश्येनु लक्षणम्॥
प्रथमं यत्स्पृशेद्बालस्ततो भाण्डं स्वयं तदा।
जीविका तस्य बालस्य तेनैवेति भविष्यति॥

उसके सामने पुस्तक, अस्त्र-शस्त्र, कलाकौशलकी सामग्री आदि रख दी जाती थी। वह जिस वस्तुको उठाता था, वही उसकी जीविका वृत्ति समझी जाती थी और उसीके अनुसार उसे शिक्षा दी जाती थी। इसके पश्चात् गुरुकुलमें कौशल-परीक्षा, शास्त्र-परीक्षा, शक्ति-परीक्षा, बुद्धि-परीक्षा तथा मेधा-परीक्षा हुआ करती थी। एक बार राजा भोजने कालिदासकी बुद्धि-परीक्षा ली थी। उनके राज्यमें चार स्त्रियाँ आकर ठहरी हुई थीं और वे अपनी-अपनी जाति पूछना चाहती थीं। कालिदास छिपकर वहाँ बैठ रहे। प्रातःकाल होनेपर चारोंने सूर्योदयका वर्णन अपने-अपने ढंगसे किया। उसे सुनकर ही कालिदासने बतला दिया कि वे क्रमशः ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या, तथा सुनारिन थीं। बुद्धि-परीक्षाके लिये सहस्रों कूट श्लोक, समस्याएँ और प्रहेलिकाएँ संस्कृत और प्राकृत काव्योंमें भरी पड़ी हैं। अर्जित ज्ञान तथा उसके प्रयोगकी परीक्षाके लिये गुरुकुलोंमें शास्त्रार्थ होते थे या शंका के रूपमें प्रश्न दे दिए जाते थे। शास्त्रार्थके द्वारा विद्यार्थी अपनी श्रेष्ठता और अपना ज्ञान सिद्ध करते थे। जो शास्त्रार्थमें हार जाता था वह पुनः

अपने विषयको पढ़कर पूर्ण करता था। वहाँ तैंतीस प्रतिशत ज्ञान प्राप्त करनेसे काम न चलता था, प्रत्येक विषयका ज्ञान पूर्ण होना आवश्यक था। धारणा-शक्तिके विषयमें भारतीयोंका सदासे यह मत रहा है कि मेधा या धारणा शक्ति बढ़ाई जा सकती है। अब भी ऐसे लोग भारतमें हैं जो अष्टावधानी, दशावधानी या शतावधानी हैं। कई कार्य एक साथ होते रहें फिर भी ये सबको स्मरण रख सकते हैं। इसकी कुछ सरल साधनाएँ तथा प्रक्रियाएँ हैं जो अभ्यास करनेसे फलवती होती हैं। ऐसे लोगोंकी कथाएँ प्रसिद्ध हैं जो एक बार, दो बार, तीन बार या चार वार सुनकर एक पद्य सुना देते थे। वररुचिकी एक कथा प्रसिद्ध है कि उसकी सात लड़कियाँ थीं जो क्रमशः एकपाठिनी द्विपाठिनी और त्रिपाठिनी आदि थीं।

पाश्चात्य देशवालोंने वर्त्तमान गन्दी परीक्षा-प्रणालीसे ऊबकर नई-नई प्रणालियाँ निकाली हैं जिन्हें बुद्धि-परीक्षा ( इण्टैलिजैन्स टैस्ट ), अर्जित ज्ञान-परीक्षा ( ऐचीवमेण्ट टैस्ट ) स्मृति-परीक्षा ( मैमोरी टैस्ट ), प्रयोग-परीक्षा ( पर्फ़ौमैंन्स टैस्ट ), आदि कहते हैं। अभी इन परीक्षा-प्रणालियोंकी भी परीक्षा हो रही है और भारतमें भी उनपर प्रयोग हो रहे हैं।

हम ऊपर परीक्षाके जिन उद्देश्योंका विवरण दे आए हैं उनका स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। वे तो स्वयं-सिद्ध, सर्वसम्मत और स्पष्ट हैं। हम यहाँ भाषाके अध्यापककी दृष्टिसे इस विषयकी मीमांसा कर रहे हैं अतः नीचे हम एक कक्षाके लिये प्रश्नावली देते हैं। चतुर अध्यापक इसीके आधारपर अपना मार्ग निर्धारित कर लेंगे।

## १—बुद्धि परीक्षा

### (क) विवेचनात्मिका शक्तिकी परीक्षा

प्रश्न—एक कवि कहता है—सत्संगोऽपि समालभ्य खलस्य कुटिला गतिः।

दूसरा कवि कहता है—सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्।

इनमें कौन ठीक है। विवेचन करो।

### (ख) साधारण बुद्धि परीक्षा

प्रश्न—निम्नलिखित वक्तव्योंमें से जो बात ठीक हो उसपर गुणाका चिह्न लगा दो।

श्रीहर्ष बड़े भारी कवि थे क्योंकि—

( अ ) उन्होंने अनेक काव्य लिखे हैं।

( इ ) उन्होंने अनेक ग्रन्थोंका अध्ययन किया था।

( उ ) वे संस्कृत भाषाके प्रकांड पंडित थे।

( ए ) उन्होंने बहुत सत्संग किया था।

(ओ) उनमें कवि-प्रतिभा थी।

## २—अर्जित ज्ञानकी परीक्षा

प्रश्न—आपको शिशुपालवधमें शत्रुको किस प्रकार समाप्त करनेके उपाय बताए गए हैं।

## ३—अर्जित ज्ञानकी प्रयोग-कुशलताकी परीक्षा

प्रश्न—शिशुपालवधमें शत्रुका नाश करनेके जो विधान सुझाए गए हैं उनमें से किन-किन विधानोंका प्रयोग वर्त्तमान भारतीय राजनीतिमें किया जा सकता है।

### ४—आगेका पाठ-भार-वहन करनेकी योग्यताकी परीक्षा

प्रश्न—निम्नलिखित शब्दोंका प्रयोग करते हुए वसंतके स्वागतपर एक निबन्ध लिखो—

रसाल, विशाल, शाल, मधुमास, परभृत, निभृत, मञ्जरी, पञ्जर, पिञ्जर, द्विरेफ, उल्लसित, विलसित, पराग, राग, विराग, अनुराग, परिचित, विरचित, प्रदेश, विदेश, निर्देश, उद्देश, उद्देश्य, तरल, सरल, विरल, विधि, विधान, विधाता, कूल, दुकूल, अनुकूल, प्रतिकूल, सारंग, देश, ध्वनि, प्रतिध्वनि, लय, ताल, स्वर, मन्द, सुगन्ध, अमन्द, द्वन्द्व, अभ्र, शुभ्र, मान, प्रमाण, अनुमान, विमान, अवमान।

### ५—अर्जित ज्ञानके आधार पर मनोवृत्तिकी परीक्षा

प्रश्न—आपकी पुस्तकोंमें कहीं राजाका जीवन श्रेष्ठ कहा गया है, कहीं धनीका, कहीं विद्वान्‌का तो कहीं परोपकारीका। तुम इनमें से कौन-सा जीवन श्रेष्ठ समझते हो और क्यों। उदाहरण और कारण-सहित लिखकर समझाओ

### ६—धारणा-शक्तिकी परीक्षा

प्रश्न—आपकी पुस्तकके कौन-कौनसे पाठोंमें मनुष्य-जीवनकी कौन-कौन-सी श्रेष्ठाताएँ बतलाई गई हैं उन्हें लिखो और इस सम्बन्धमें आपने जो श्लोक पढ़े हों उन्हें लिखकर उनकी व्याख्या करो।

### ७—अर्जित ज्ञानके आधार पर अपने विचार प्रकट करनेकी क्षमताकी परीक्षा

प्रश्न—आपने रघुवंशके त्रयोदश सर्गमें पुष्पक विमान द्वारा रामके अयोध्या लौटनेका वर्णन पढ़ा है। यदि आज

आप विमानपर चढ़कर लंकासे अयोध्या आवें तो कौन-कौनसे परिवर्त्तन देखनेको मिलेंगे।

इस परीक्षा-प्रणालीमें विद्यार्थीकी वास्तविक परीक्षा हो जाती है। परीक्षा-प्रश्नावलीका भूत भाग जाता है और व्याख्या क्रियताम्, विवृणुत, सप्रमाण विलिखत इत्यादि सब बातें निकल जाती हैं। इस प्रकारकी परीक्षासे वास्तविक ज्ञानकी परीक्षा हो सकती है।

उपर्युक्त विवरणसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि आज-कल जो परीक्षा प्रणाली चल रही है उसके कारण संस्कृतके छात्र केवल परीक्षामें पूछा जा सकनेवाला अंश तो घोट लेते हैं, शेष सब छोड़ देते हैं। इसका व्यापक प्रभाव यह पड़ रहा है कि संस्कृत के छात्रोंमें वह पांडित्य और वह विद्वत्ता अब नहीं दिखाई देती जो पहलेके पंडितोंमें हुआ करती थी। अतः अपनी पाठन-प्रणालीको सुस्थिर, व्यव-स्थित और व्यवहार्य बनानेके लिये यह आवश्यक है कि संस्कृत-शिक्षाका माध्यम संस्कृत ही हो छात्रोंका व्युत्पत्ति-ज्ञान बढ़ानेकी व्यवस्था हो, परीक्षाएँ यथा—संभव कम कर दी जायँ, वर्त्तमान ज्ञान, विज्ञानका साहित्य भी संस्कृतमें अनूदित करा लिया जाय और शिक्षण-योजना इस प्रकार व्यवस्थित की जाय कि संस्कृत परीक्षाओंमें उत्तीर्ण छात्र व्यवहारज्ञ, बहुज्ञ तथा प्रौढ़ पंडित हों और राज्य-शासन तथा जीवन सामाजिक जीवनके किसी भी क्षेत्रमें उसी प्रकार उपयुक्त सिद्ध हो सकें जैसे अन्य राजकीय अथवा राज्यप्रमाणित विद्यालयोंके छात्र होते हैं।

---